

श्रीमज्जिनदत्तसूरिमाधीनपुस्तकोच्चारणकण्ड (सुरत) प्रख्यात-६१

अहम् ।

श्रीधरवरगच्छप्रार नवाङ्गवृत्तिकार श्रीमज्जिनममयद्वयसूरिवट्टाळकार कविपद्मवर्ति
श्रीमज्जिनचल्लमसूरिविरचितः—

श्रीसङ्घपट्टकः ।

श्रीसायुकीर्तिगणि निर्मितावर्ष्याधिभूषिता, लक्ष्मीसेनरचितटीकया
समलङ्कृतः हर्षराज उपाध्यायविहित लघुवृत्त्या सनायीकृतव्य ।



श्रीमज्जिनकृपाचन्द्रसूरीश्वरश्रिय उपाध्यायपदालङ्कृत मुनिश्रीसुखसागरोप
दत्तात् धेष्टिषर्प्यं चायु प्रसन्नचन्द्र घोषरा, चायु गोविन्दचन्द्र भूरा तथा
महासमुद्र श्रीसङ्घ इत्यादि भाद्रवर्षेर्विहितेन द्रव्यसाहाय्येन,

✽

प्रकाशकः ।

श्रीमज्जिनदत्तसूरिसंज्ञानभण्डार,

सु सुरत

वि० सं० २००९]

मेट.

[प्रति ५००

पुस्तक प्रतिस्वात—

श्री जिनबचसूरि ज्ञानमण्डार,
ठि. पोरीपुरा बोरवाल मोहल
सु सुरत (गुजरात)।

श्री सङ्गपट्टक के प्रव्य साहाय्यक महाशयों की शुभ नामावली:—

- | | | |
|------|---|--------------|
| ४५०) | बाबू प्रसन्नचन्द्रजी बोधरा | कलकत्ता। |
| २५०) | बाबू गोविन्दचन्द्रजी शूरा | कलकत्ता। |
| २५०) | महासमुद्र श्रीसङ्ग के ज्ञानज्ञाते से—
हस्ते-इषुतमलजी पीषा | महासमुद्र। |
| १०१) | स्व० गुलाबचन्दजी सेठिया स्मरणार्थ—
तस्मिन् तेजमलजी सेठिया... .. | बाकापाट। |
| १०१) | श्रीपुत्र सुसलालजी असकरणजी घोषडा .. | रावनादगाँव। |
| १५१) | सुधाकरचंद छणावत धर्मपरनी सौभाग्यवती मंगुबाई | नरसिंहपुर। |
| २१) | एक बाई की तरफ से | नरसिंहपुर। |
| २०१) | श्री छोटमलजि मनसालीजि की सौ० धंपाबाई | सु० नागपुर |
| १००) | सेठ सौभागमलजि तथा मदनकुमारजि बाराण | सु० दिण्णपाट |

शुभक —

शाह गुलाबचंद अस्तुभाई
श्री महोदय श्री प्रेष—नागपुर।

—: नि वे द न :—

संपपट्टक, जो आप के करकमलों में विराहित है, के—रघयिता आचार्य भी जिन बह्मसुरिजी महाराज हैं। उनका अस्तित्व समय वि सं ११२५—६७ है, जैसा कि—श्री जिनबंधुरि रचित संवेगारंगमाला से सिद्ध है। सुरिजीने उपर्युक्त ग्रन्थ का संशोधन वि सं ११२५ में किया था। इस संपपट्टक की रचना आकस्मिक घटना नहीं पर एक सत्यामिथ सिद्धान्त पर आधृत है।

श्री जिनबह्मसुरिजी के जीवन से ज्ञात होता है कि, उनका विश्वकूट-पिचौड़ में अच्छा प्रभाव था। आपने वहाँ पर, अनेक प्रकार के कष्ट व यातनाएँ सह कर, जैन धासन की जो सेवा की है, वह उल्लेखनीय है। जैन संस्कृति के इतिहास में इन सेवाओं का बहुत बड़ा महत्त्व है। यही कारण है कि, चिचीड का श्री संप सुरिजी का परम गुरु और आज्ञा सुवर्ती था। आप के अनुपदेश से, वहाँ के आबकोंने धासननायक महावीरस्वामी का नवीन विविधैस्य निर्माण करवाया था। सुरिजी द्वारा ही इस की प्रतिष्ठा का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ था और संप व्यवस्था सूत्रक प्रस्तुत “संपपट्टक” मूक, (१० श्लोक) उपर्युक्त विविधैस्य के मुख्य द्वार पर पापाप—क्षिणा पर सुदबा कर, जगाया गया था, जैसा कि बंबलगाण्डीय श्री महेश्वरि प्रणीत ‘छतपदी’ से सिद्ध होता है।

जैन साहित्य में, इस ग्रन्थ का स्थान कितना आवश्यकता समझा जाता है, इस का अभ्ययन कितने व्यापक रूप से होता आया है इस का ज्ञान हमें, उन कृतियों से होता है, जो समय समय पर विभिन्न आचार्य, मुनि और जैन गुरुओं द्वारा इस पर रची गयीं, टीकाओं से विदित होता है कि मध्यकालीन जैन संस्कृति और साहित्य में यही एक ऐसी मूल्यवान् कृति है, जिस पर मकरण्ड पंडितों को माप्य क्लिप्ता पडा। यह आकर्षण व्यक्ति मूक नहीं पर गुणमूलक है।

अथावधि रचित कृतियों की संख्या आठ तो ज्ञात हो चुकी है। इन का उल्लेख प्रो

हरि कामोदर वेङ्कटर गुप्त "दिनरत्नकोश" में हुआ है। वृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ व माचीन "हरहरैषि" है, जिसका प्रयोजन प्रकाण्ड पंडित और क्षात्रार्थी श्रीमिनपति चंद्रिणी म द्वारा हुआ। यह वृत्ति क्या है? एक प्रकार से महामाध्य है। इस में आचार्य महाराजने अपने सैद्धान्तिक ज्ञानबल से तर्कयुक्त शैली में, सुन्दर रूप से मूल ग्रन्थगत विषय का समर्पण किया है।

मस्तुत संस्करण तैयार करने में निम्न हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया है, जिन का परिचय इस प्रकार है—

प्रति परिचय—

(१) A संघपट्टक—ब्रह्मचरि, साधुकीर्ति गणिरचित, रचनाकाल सं १६१९।

यह "मति" मुनि कान्तिसागरजी के निजी संग्रह की है। पत्र ३, विपाठ, जिस का चित्र इस ग्रन्थ में दिया जा रहा है। इस की लेखन प्रकृति इस प्रकार है—

“ सं १८५३ वर्षे कार्तिक शुक्लपक्षे पञ्चम्यां कर्मवाद्यां
॥ पं ॥ श्रीमविश्वय मुनिना क्लिष्टेखि श्री फलवर्द्धिकायां चतुर्मासी चके
॥ श्रीरस्तु ॥

B संघपट्टक—ब्रह्मचरि,

यह "मति" बाबू पूर्णचंद्रजी नाहर के संग्रह से उनके सुबोम्ब—मुत्र राष्ट्रसेवी श्री विश्वसिंहजी नाहर की उदारता से प्राप्त हुई थी। वि सं २००१-४ के हमारे कलकत्ता चतुर्मास के समय इस की प्रतिकृति करली गयी थी। मति सुंदर सुवाच्य व मायं शुद्ध है।

(२) A संघपट्टक—टीका, कर्त्ता, लक्ष्मीसेन, रचनाकाल सं १५१३,

इसकी "मति" हमें रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल के

१ प्रकाण्ड; भाग्य वेङ्कटर वेङ्कटर ब्रह्मचरि सं १९१३ इत्यादि का यह भाष्यकार पदवीय है और आज की स्थिति को देखते हुए विचारणीय भी।

२ आचार्य महाराज व वेङ्कटर स्वर्ण बहिरीव प्रतिभासम्ब विद्वान् ही ये अति विद्वत्तरम्ब के निर्माता भी थे। आज के अधिष्ठात विन्व वेङ्कटोदि के ग्रन्थ रचयिता व प्रथम पाणिन्यपूर्ण विचारपरम्परा के धरा थे।

बन्तर्गत "ओरियण्टल सायमेरी" से प्राप्त हुई थी। सापेक्षतः यह प्राचीन है।
अन्तिम इस प्रकार है—

॥ इति श्री संघपट्टकस्य टीका परिपूर्णा, लिखिता प विनयसोमेन,
स्ववाचनार्थम् ॥

B संघपट्टक-टीका, यह "प्रति" अनुयोगानार्थ स्व० श्री केशरसुनिशी
गणि के सिष्य मुनिवर प बुद्धिसुनिशी गणिने प्रतिक्षिपि भेखी थी।

(३) A संघपट्टक-लघुवृत्ति, कर्त्ता-हर्षराज उपाध्याय,

यह "प्रति" इने श्री अजरबंदजी नाहटा द्वारा प्राप्त हुई थी। मूल
प्रति "मांडारकर ओरियण्टल रीसर्च इन्स्टिट्यूट"—पूना में सुरक्षित है।
पत्र संख्या २७, प्रति प्राचीन व पंच पाठ है। इस की छिपि बहुत सुन्दर
और सुपाठ्य है। देखिये ब्लेक।

B संघपट्टक-लघुवृत्ति, यह "प्रति" अनुयोगानार्थ स्व० श्री केशरसुनिशी
गणि के सिष्य मुनिवर प बुद्धिसुनिशी गणिने इस की प्रतिक्षिपि भिजवाई थी। मूल
प्रति के लेखन मद्यस्ति इस प्रकार है—

संवत् १६०८ वर्षे माह सुदि ५ दिने क्षनिवारे श्रीस्वरतरगच्छे श्रीधिनमाणिक्य
परिविषयराज्जे श्रीविक्रमनगरे गजपर-धोपडागोत्रे सा० देवराजस्त्युत्र सा० जगसिंह
स्तस्तु० सा० कम्मा मा० आ० कौतिकदेवाः पु० रत्न सा० रायपाल सुरताष संसारचैद
मक्षत्परिवारयुतेन सा० रायपालन ज्ञानपञ्चमीतपस उषापने श्रीसङ्घपट्टकलघुवृत्तिप्रतिर्बिदरा
पिता श्रीधनराजोपाध्यायानां। बाष्पमान विरे नन्दतु ॥ शुभ कस्यापमस्तु। श्रीधनराजो
पाध्यायसिधैः प्रसादीकृता प्रतिरिय वा० जयसुन्दरगणैः। शुभं भवतु लेखकपाठकयोः।
कस्यापमस्तु। श्रीः।

आमार—

सर्वप्रथम हम परमपूज्य गुरुवर्य उपाध्याय पद विद्युषित १ ०८ सुखसागरश्री
महाराज सा के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिनके सतत् भ्रम से यह

संस्करण तैयार हो सका। इस में प्रयुक्त प्रतियों के प्रेषण में जिन महानुभावों (नाम ऊपर प्रासंगिक रूप से आ चुके हैं) सहायता कर हमारा कार्य सरल किया, उनको, व पूर्व गुरुदेव के सदुपदेश से जिन जिन भावकोंने, ज्ञानवृद्धिपर्य्य आर्थिक मदद की, उन सब को धन्यवाद देना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य कर्तव्य समझते हैं। श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराजों का जो विश्व (काठपट्टिका) प्रकाशित किया जा रहा है, उसका ब्लेड बीकानेर से मॅबरकाजी नाइट द्वारा प्राप्त हुआ था। तदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इस के धोमन में हृदयोर से या तथाकथित कारण से यदि स्वरूपा रह गई हों तो पाठक सहाय्यपूर्वक सुझाने का कष्ट करेंगे।

सिबनी, (खी० पी०)

आ० शु ७, सं २००९

शुभाकांक्षी,

मुनि मंगलसागर

प्रेस में छप रहे हैं—

१ महावीर स्तोत्र अवधूरिसह A मूल-श्री जिनवल्लभसूरिजी,
अवधूरि, कर्ता-श्री नरसुन्दर गण्धि।

चन्द्रवृत्त-काव्य B कर्ता-श्री विमलकीर्ति गण्धि,

विद्वत्प्रबोध C कर्ता श्रीवल्लभ गण्धि,

२ सप्तोपधानविधि

३ पंचप्रतिक्रमण सविधि

प्रकाशक :—

जिनवल्लभसूरि ज्ञानभण्डार, सुरत

समर्पण

जगम-युगप्रधान-भहारक-१००८

श्री जिनकृपाचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

परम गुरुवर्य

के

करकमलों में श्रद्धापूर्वक

समर्पित

मुनि मंगलसागर

उपोद्घात

सुगणवत्पुण्यपीठसु—वाणपीथिसमजाकया भक्त्या । ज्ञेय सिष्यवच्छेद्य, गुरुणा तं सम्बन्धा बन्धे ॥

विद्य समय वैद्वशापी आचार्यपथ ज्ञानघर को प्रदानता देकर अथपत्ररूपित वैद्वशितक आचरकों की अर्पणना कर रहे थे मगरजाम थे ही यैजों में विवाह कर रहे थे मङ्गलिकों की तरह यैलों के सर्वाभिषारी बन कर वैभव साम्राज्य में अयन्य-वत्सव मना रहे थे जब समय में इस वैद्वशास की पुर्म्यवस्था से अविध होकर अन्तप्रथम आचार्य की हरिमरद्वारे इन गुरुवार का उम निरुपेन किता था पर इसप्र कोई ज्ञेय परिचय हुआ हो कहा यही का चङ्गता ।

तदन्तर प्रमुखास्य थे जम विरोध कतेशाके आचार्य की विनेशरद्वारे हुए, अिन्हीसे वैद्वशासिकों की प्रमुक्त नपटी अचहिल्लुत्पत्तन में आकर, महापराधी दुर्कमराज के समय वैद्वशासि आचार्यों के सम्मुख ही वैद्वशितक आचरकों की छुट्ट बरुण्य कर सुविहित पङ्क [अठार पङ्क] की स्थापना की थी । सुविहित पत्नीय आचरकों के प्ररुण्य और वैद्वशासी इन्मार्गवादिश के निर्देक रूप में ही इस आचरकथा हुई थी ।

काम्यकार-इत काम्य के ज्ञेया कीविनवत्सवमनि है । यह इस काम्य १६वीं करिका से स्पष्ट है—
विद्वान्निर्गुणमर्गैर्धरमनासीर्दं भुतोर्द्वेजैः, सङ्गानैद्युमर्षिं जिनं बरवपुः श्रीर्धेन्द्रिकामेधेरम् ।
बन्धे वैर्ष्यमनकेबासुरतरेः ज्ञेकेने वैनेच्छिद, दग्भारिं विद्वान् सत्ता सुवचसाडनेकान्दरुप्रवम् ॥
॥ १८ ॥ “ विनवत्समेन गणितेद चके ”

ये विनवत्सम गणि कीय थे ? कहा के थे ? किनेके सिष्य थे ? इत्यादि विद्वानों का निर्देय बाध्य एवं अन्तच्छ प्रसन्नो थे किना का चङ्गता है ।

श्रीविनवत्सिष्यि किन्त श्रीविनवत्सोपाशशापप्रणीत' अठारपञ्चकहार पुनप्रभावाचर्यं पुर्वाक्री में और श्रीसुमतिगञ्जिभित पञ्चरत्नार्कसप्तक की बृहस्पति में इत अकार कलेक विक्रया है ।

विनवत्सम आदिश पुर्मविवासी कूर्कपुटीय श्रीविनेशरद्वार के सिष्य थे । विद्वान्ताम्बरन के किने पत्तन-सित आचार्यअर श्रीअमनदेरद्वारे के पाठ बने थे । आपमाम्ननोपगत सुविहित आचरकों से प्रभावित होकर, गुरु विनेशरद्वार की आश्रम प्राप्त कर, वैद्वशास का अन्त कर बन्धने अचरनेशरद्वार के पाठ अचरमनास्य प्रवृत्त की । इन्ही को अमनदेशरद्वार के विनेय प्रसन्नवत्सवार्न के सिष्य श्री वैद्वशासिआचार्यने छ ११६० विनवत्स में अमनदेशरद्वार के पत्र पर अमिषिक्त कर विनवत्सद्वारे नाम अचरनेशरद्वार किना और छ ११६० के ही अठारक अन्त अठारकी के दिन अचर अर्गपत्र हुआ ।

इस ठीन्ही प्रथमों की पुष्टि अन्य अठारपञ्चम पत्राभिकों के भी होती है ।

१ विनवत्सम आदिश पुर्मविवासी वैद्वशासी श्रीविनेशरद्वार के सिष्य थे ।

२. श्रीमन्नरेश्वरार्चन के पास सिद्धान्तों के अन्वयन के बिना वे मधे से और पीछे जाचार्यजी के पास ही उपसम्पदा ग्रहण की थी अर्थात् अन्नपदेव के ही शिष्य बने थे।

३ श्रीदेवमन्नाचार्यने ही इन को अन्नपदेवार्चन के पद पर स्थापित किया था।

अन्ततः प्रमाणों से अज्ञात (अज्ञानपरिचित) प्रभोत्तरैकपद्धिगतक नाम्न को उपसम्पदा से पूर्व ही रचा गया था उसमें वे श्रीविनेश्वरार्चन को 'मद्गुरवो जिनैश्चरसूरया' अन्वोधन से और आचार्य श्रीमन्नरेश्वर को 'सद्गुरवोऽन्न आचरन्मयीसुभुताः विद्युताः श्रीमन्नमयदेवाचार्याः' अन्वोधन से स्पष्ट करते हैं। इस से यह तो निश्चित हो ही जाता है कि विनेश्वरार्चन इनके मूल हीसागुरु थे और सैद्धान्तिक (विद्यागुरु) गुरु वे आचार्य अन्नपदेव।

(२) इन्हीं श्रीविनेश्वरमयपरिचित सूत्रमार्थविद्यारत्नारोत्थार प्रकरण (धर्मसतक) पर बृहद्दक्षणीय श्रीयनेश्वरार्याचार्यने सं ११७१ में टीका की रचना की है। उसमें १५२ वें पद्य की व्याख्या करते वे लिखते हैं कि—

“विन्नवृद्धपरिचिति” विन्नवृद्धमयपरिचितमेकन मतिमया चक्रवर्धसम्प्रादित्वापाज्ञागोपाज्ञपशासकदिद्यान इतिविद्यानासादापगतधीर्षिद्युनाचक्रवर्धमयमन्त्रक्यानां भीमपन्नपदेवसूरीणां शिष्येण किञ्चित् कर्मप्रकृत्यादिगम्भीर पाशेभ्यः समुद्रुक्त इत्थं विन्नवृद्धपरिचितिचितम्।”

इस प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रतीत है कि विन्नवृद्धमयर्षण ब्रह्महीइतिश्ररक आचार्य अन्नपदेवसूरी के शिष्य थे।

उपरोक्त सुविहितपदीय जिनैश्चरसूर्याचार्य के पदपर आचार्यप्रवर श्रीजिनवृद्धसूरी रचित संदेश रंगाद्याका को प्रथिफा “इति श्रीमन्नवृद्धसूरीकृता तद्विनेम श्रीप्रसन्नवृद्धसूरी समन्वयितेन मुन्नवृद्धपरि [ना] इतिउल्लेखता विन्नवृद्धमयपरिचा न संवेपदशब्दाऽऽपचना समता। ये यह मूलनवस्तु प्रकथन में जाती है कि—गुणवृद्ध परि को आचार्य बनने पर देवमन्नाचार्य के नाम से प्रथिफा हुए उनसे संवेपदशब्द-विषयी रचना ११२५ में हुई थी—उपसन्न संश्रर किया और श्रीविनेश्वर गणने उक्त संश्लेषन किया। इस से भी नहीं छिद होता है कि, कि सं ११२५ के पूर्व ही श्रीविनेश्वरने अन्नपदेवार्चन के पास उपसम्पदा ग्रहण करली थी।

श्रीविनेश्वरन उपसम्पदा पूर्व परि नहीं थे यह बात के—उपसम्पदा पूर्व रचित उनके जो जो मन्त्र प्राप्त होते हैं। इनकी विन्नविशिष्ट पङ्क्तियों से प्रतीत होता है—प्रथम इति पार्श्वेयवस्तोत्र पद्य २३ [आदि—अन्नवृद्धीर्षाचार्यपरिचितारित्त्वोपविनमत्] में “मन्ना प्रथममन्नासादा नृह कर जपना मन्म केवक

१ “कः स्यादस्यपि नरीकावसवति । क हीपिनं इत्थमने ।
 कोक्य (क) प्राह हय प्रभोमभियुषै कः शब्दवस्तु स्पष्ट । ।
 श्रुते शास्त्रविद्याऽन्न । दुर्धरतर नृह सुम्बलेऽम्बोलिभेः ।
 श्रुति श्रीविनेश्वरसुदित्परि श्रीपरिवना के उक्तम् । ३१५५० मद्गुरवो जिनैश्चरसूरयाः”

२ पदिक नासुरवाचिकः । क मरतो भीरो मन्म श्रितने । ताकृष्टानिदरकवा नृह कवा रचनन्ति विद्वन्मनाः । ।
 गानी कि सुरभिश्रितति । मुषि तं प्वादनित वा के कवा । के वा सद्गुरवोऽन्न आचरन्मयीसुभुताः विद्युताः । (१५८)

“श्रीमन्नमयदेवाचार्याः”

३ अज्ञानाङ्गुलिधि रियते प्रथममन्नासादा कवित्वत्वन मत् । किचित्प्रमन्महर्षेविन्नपन्नसाधुपुष्पुषै मया ३१२०

'शिवराजम' स्थित करते हैं। और इसी प्रकार प्रसोत्तरीकपण्डितशतककाव्य में भी 'शिवराजमेव पर ये भी बड़ी स्थित करते हैं। अतः उपसम्पदा पत्रात् ही आचार्य अमरदेवने 'गति' वर प्रदान किया हो ऐसा प्रतीत होता है।

इनके अन्तर्गत इन्हीं के बहुरूप रूपप्रकाश धीजितवृत्तसूत्रि सारथित पत्रपरसार्वभौमिक में ५ आर्जोको से 'सुप्रतिज्ञितवृत्तहो' की स्तुति करते हैं तथा अपने प्रणीत समस्त ग्रन्थों में 'शिवराजमसूत्रि' को नमस्कार एवं उनकी स्तुति तो अन्तर्पूर्वक करते ही हैं।

अतः ऊपर उल्लिखित बाह्य एवं अन्तर्गत प्रमाणों से यह निश्चित है कि शिवराजम गति सुप्रतिज्ञित [शरतरमच्छीन] श्रीअमरदेवसूत्रि के शिष्य एवं पट्टर वे।

ग्रन्थपरिचय।

पश्चिम १२वीं शती के उत्तर विद्वानों में से एक थे। इनका अकडारशास्र सम्प्रदाय व्याकरण हर्षेन ज्योतिष और धैर्यप्रतिष्ठ विद्यों पर एकाधियत्य था। इनने अपने कीर्तनग्रन्थ में विविध विद्यों पर एकद्वों ग्रन्थों की रचना की थी किन्तु देव सुप्रियाफ से बहुत से अनुत्तम ग्रन्थ बह हो गए। और इस बहू इस समय इनके केवल ४३ ग्रन्थ ही प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों की तालिका निम्न है—

- १ सामर्थविचारसाधेयार प्रकरण (साधकतक), २ आचमिकस्तुविचारधार प्रकरण (पञ्चमीति), ३ विष्णुविष्णुदि प्रकरण ४ इन्द्रतनुजक ५ बर्मेविद्या प्रकरण ६ संवपट्टक ७ वीरवमिदि प्रकरण, ८ प्रति-
 ऋण सम्यगारी प्र ९ ४ ९ आसपरीक्षा (कलेख-वडासनक बाबा तद्वप्रमसूत्रिकृत) १
 प्रसोत्तरीकपण्डितशतकम् ११ श्रद्धारकतक (अनुपकम्) १२ साम्राज्यविचार (अनुपकम्) १३ अह
 समति (अनुपकम्) १४ सर्वशोधरीगणसहस्राद्या प्र मा ना १५ धारकजतकुञ्जक प्र ना
 १६-२ आदिवाचदि शरित्र पत्रक से २१ नीरशरित्र (अपमनवन) प्र मा
 १५ २२ महाविचारण श्लोक प्र २ २३ कणु अविपुत्राश्रित्यार (शरति) प्र मा १७ २४
 पञ्चकन्याकला (सर्ग ममिजन) प्र ना २६ २५ सर्वविनपत्रककलाकद्या (पत्रमिन घु)
 प्र ना ६ २६ पञ्चकन्याकला श्लोक (श्रीतिश्रुतिस्त) से पत्र १३ २७ कन्याकलाद्या (पुरन्दर
 पुरस्पर्दि) से पत्र ७, २८ महामण्डितमार्गसर्वविष्णुतिष्ण (खेनाखेन) प्र मा २७ २९ पार्श्वस्तोत्र
 (अमस्वष्टीर्षण) सं. पत्र २३ ३ पार्श्व श्लोक (अमस्वष्टीर्षण) सं पत्र २९ ३१ पार्श्वस्तोत्र (शिरि-
 मन्मन्मन्मन्पुरे) प्र मा ११ ३२ पार्श्व श्लोक (अमेव माता तं पिता) सं. प ९, ३२ पार्श्व श्लोक
 () ३४ महशीर्षिष्णुतिष्ण (सुरमन्मन्मन्मन्मन्) प्र मा
 १३ ३५ नीरपुगास्तुति: (वेशाचीलकृते) सं प १ ३६ अचभमिन श्लोक (अचमन्मन्मन्मन्) प्र
 मा २३ ३७ सुप्रोत्तरीकपण्डितस्तोत्र (पमिरसुगसुग) प्र मा २९ ३८ नीरुत्तरीकपण्डित (नीरिन
 मन्मन्) प्र मा १५, ३९ सर्वविनस्तोत्र (श्रीतिप्रमन्मन्मन्) सं प १३ ४ कणुविष्णुतिष्ण श्लोक
 (श्रीमन्मन्) प्र मा १४४ ४१ अचभस्तुति (मन्मन्मन्मन्मन्) प्र मा ४ ४२ शरत्सदी
 श्लोक (शरत्सदीक) सं. प २५ ४३ अचभस्तुति (किं किं कणुत्त) अपर्षक १३।

इस प्रश्नो में सार्द्धसतक पदकीति और 'पिण्डविद्युद्धि' ने तीनों ही वैदिकान्तिक प्रश्न बहुत ही महत्व के थे। इन प्रश्नों पर व्याचार्य मलमगिरि, बनेश्वरचार्य हरिभद्राचार्य श्रीचन्द्राचार्य आदिने तत्काल ही वर्षात् १२वीं शती में ही टीकाएँ रचकर इनकी सार्द्धजनिक उपयोगिता घोषित की, और इसके प्राक्-समय प्रश्नों पर बनेकों टीकाएँ प्राप्त होती हैं।

१ इसके समय मूल प्रश्नों का ब्रह्मभारती के नाम से मैं सम्पादन कर रहा हूँ। उसमें 'गवित्री' के अन्वयैतिहास पर प्रकाश डालूँगा। अतः वहाँ पर उनकी विद्युत्प्राकृता पर विचार नहीं कर रहा हूँ।

२. क्या पिण्डविद्युद्धि के कर्त्ता पूजक हैं ?

वर्तमान युग में कई सुविधान पिण्डविद्युद्धि के कर्त्ता अरुतर विनवन्नम नहीं है किन्तु इसी नाम के कोई पूजक आचार्य भी न रह चुका है ऐसा मानते हैं। उनमें अमगम्य भाग पन्नाच मुनि-मानविद्युद्धिजी मन्ते हैं। वे अपनी 'पिण्डविद्युद्धि' की प्रस्तावना में पञ्चम्यामोह से बनेक बातें इतिहासविषय, प्रमाण-मय सह स्वकपोसकल्पनोद्भवित बनेक प्रकारकी कर्त्तव्य उपस्थित कर ऐसा प्रतिपादित करते हैं कि—श्री विनेश्वरसूत्रि, श्रीअमनवेधसूत्रि सुविहितपञ्चीन (अरुतरपञ्चीन) नहीं थे उनका यह प्रतिपादन कहाँ तक युक्तियुक्त है। इसका विचार मैं अपनी ब्रह्मभारती की प्रस्तावना में विस्तारसे करूँगा। किन्तु विन-वन्नम के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका सारोच प्रस्तावना पृष्ठ २-३-४ में विस्तारित है—

- १ विनवन्नमसूत्रि अरुतर है इस प्रकार का प्रश्न स्वयम्भू का बर्त्तन बनेने के सिन्धे किया गया है।
- २ बहू कन्तान्तक की बहूत्प्रसन्नय करने के कारण अरुतर विनवन्नम को सन्वहिकृत किना गत वा अतः अमनवेधपार्य के सिन्धे भी नहीं हो सकते।
- ३ तत्कालीन रचित टीकाओं में किसी भी टीकाकार व्याचार्यने यह निर्देश नहीं किया कि वे अरुतर पञ्चीन थे और अमनवेधपार्य के सिन्धे थे।
- ४ ऐसे सह बहिनकृत बहूत्प्रसन्नय के प्रश्न पर श्रीचन्द्रसूत्रि जैसे समय टीकाकार वीच नहीं रच सकते। अतः यह सुस्पष्ट है कि पिण्डविद्युद्धिकार अरुतर नहीं है किन्तु पूजक एतन्नामकारक कोई आचार्य हैं। इस मान्यता पर विचार करें तो केवल बही प्रतीत होता है कि प्रस्तावना केवल ऐतिहासिक वरंपराओं से अवसिद्ध हैं। प्रमाणों में केवल सेनप्रसन्न का प्रमाण दिया है। इस प्रमाण से भी किसी समय पिण्डविद्युद्धिकार पूजक हैं इस विषय में कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

बहुती वात-विनवन्नमसूत्रि १२वीं शताब्दि में हुए हैं, और सेनप्रसन्नकार १०वीं शताब्दि में तथा सेनप्रसन्न की रचना भी अग्रप्राय वर्तमानपरी के अन्वयार्थप्रसन्नय के पश्चात् ही हुई है अतः वर्तमानपरीय प्रश्नों का प्रमाण इस पर पूर्णसे से पडा है। अतः ऐसी अवस्था में मन्वकारक कीचन और प्रश्नों पर विचार करने के सिन्धे सेनप्रसन्न का उपयोग कर्त्तव्य भी नहीं किया जा सकता। परन्तु तत्कालीन प्राप्त प्रमाणों के आधार पर ही निर्देश करना चाहिये कि—क्या विनवन्नम बहूत्प्रसन्नय है ? सन्वहिकृत थे ? और अमनवेधपार्य के सिन्धे नहीं थे ? —

गवित्री की बहूत्प्रसन्नय प्रसन्नय-बहूत्प्रसन्नय नहीं थी किन्तु वैदिकान्तिक प्रसन्नय ही थी। यदि बहूत्प्रसन्नय होती तो तत्कालीन समय गच्छों के आचार्य इसका उग्र विरोध करते और दुर्बल

१ श्रीचन्द्रसूत्रि वीच सह विनवन्नमसूत्रि प्रम्बनाम्ना सूत्र सं १९९५ में प्रकाशित।

'शिववक्त्र' सुचित करते हैं। और इसी प्रकार प्रभोत्तरेकपट्टिशतककाव्य में भी 'शिववक्त्र' पर ये भी वही सुचित करते हैं। अतः उपर्युक्त पद्या ही आचार्य जगद्वेनने यथैव पर प्रस्तुत किया हो ऐसा प्रतीत होता है।

इसके अन्वया इन्हीं के पद्यर मुयप्रधान धीमिनद्वन्द्वसुरि सरचित मयवरसार्धसतक में ५ भागोंमें से 'सुरिभिनद्वन्द्वो' की स्तुति करते हैं तथा अपने प्रणीत समस्त ग्रन्थों में 'शिववक्त्र' की ममस्कार एवं वन्दना स्तुति को अन्तर्भूत करते ही हैं।

अतः ऊपर उल्लिखित बाद्य एवं अन्वय प्रमाणों से यह सिद्ध है कि शिववक्त्र यथैव सुनिहित [भारतपरमेश्वर] श्रीमदभवेनघरि के किम्ब एवं पद्यर में।

ग्रन्थरचना।

मन्विर १२वीं शती के बहुत विद्वानों में से एक थे। इनके अकट्टाराल कल्पकाल व्याकरण, दर्शन ज्योतिष और ऐतरेयिक विषयों पर एकत्रिकृत था। इनने अपने जीवनकाल में विभिन्न विषयों पर अनेकों ग्रन्थों की रचना की थी किन्तु वैदिक युगिण्ड से बहुत से जन्म्य ग्रन्थ यह हो गए। और इस वजह से इस समय इनके केवल ४३ ग्रन्थ ही प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों की ताकिक निम्न है—

- १ धर्मार्थविचारसारेण प्रकरण (धर्मसतक), २ आत्मिकनस्तुतिचारण प्रकरण (वन्दनीति)
 ३ पिण्डविद्युति प्रकरण ४ इन्द्रकण्डक ५ सर्वविद्या प्रकरण ६ सधपट्टक ७ पौषवनिधि प्रकरण, ८ प्रति-
 क्रम्य सम्यगारी प्रा या ४ ९ आस्यरीक्षा (सोम-वन्दनसक भाषा तद्वनप्रसूत्रित), १
 प्रभोत्तरेकपट्टिशतकव्याम्यम् ११ म्हाभारतक (अनुपकम्ब) १२ साम्राज्यविचार (अनुपकम्ब) १३ अह
 सति (अनुपकम्ब) १४ सर्वजीवसरोपववाहय सार प्रा या १५ भावकप्रतकुडक मा. या
 १६-१ आदितावादि चरित्र वक्त्र सं २१ शीत्चरित्र (अयमनवन) प्रा या.
 १५ २२ माताविचारण श्लोक प्रा या २३ अनु अभिउपसन्धिसार (वज्रवि) प्रा या १७ २४
 पंचकमानकदाय (सम्मं नमिजन) प्रा या २६ २५ सर्वभिनपञ्चकम्बक सार (पद्यिब हुर)
 प्रा. या ८ २६ पञ्चकमानक श्लोक (प्रीतिव्यतिष्ठत्) सं पद्य १३ २७ कन्याक सार (पुराण
 पुराणिक) सं पद्य ७, २८ महानथिर्मासर्वविद्विष्टिक (अवेदाखेन) प्रा या २७ २९ पार्वीश्लोक
 (ममलक्ष्मीवर्ण) सं. पद्य ३३ ३ पार्वी श्लोक (कन्यास्यार्थः) सं पद्य ३५ ३१ पार्वीश्लोक (सिरी-
 मन्वर्वमन्वुरे) प्रा या ११ ३२ पार्वी श्लोक (समेव माता त्वं पिता) सं. व ९, ३२ पार्वी श्लोक
 () ३४ महाश्रीविद्विष्टिक (श्रवणसकवर्ण) प्रा या
 १३ ३५ शीतलस्तुतिः (रेवाभीषङ्कते) सं प १ ३६ अक्षमभिन श्लोक (सकमुपविष्ट) प्रा-
 या १३३ ३७ श्लोत्रव्यवहारपार्वीश्लोक (भमिरुपहृर) प्रा या १९ ३८ नदीवरश्लोक (संविन
 मंविन) प्रा. मा. १५, ३९ सर्वभिनश्लोक (प्रीतिप्रसन्नमुख) सं व १३ ४ अक्षुर्विद्विष्टि भिन श्लोक
 (जीवमन) प्रा या १४७ ४१ अक्षमस्तुति (मन्वेवीश्यामि) प्रा या ४ ४२ सरस्वती
 श्लोक (सरमकस्य) सं. व २५ ४३ वषकारस्तव (किं किं कप्यस्य) अक्षमं १३।

आप करकेका उपरोक्त दिवा है। एते पय में जोताओं की योगता को दिखाना है। १-४ पय में अपमानों काय नेत्राशयियों को विनोयि प्रसन्न की दिव करते हुए पूर्व पय में १ औद्योगिक मन्त्र २ विनयुद्ध में निवास, ३ वसतिपाठ के प्रति मासर्ष ४ इत्यस्यपह ५ नावक मर्षों का प्रति मयल ६ बैल स्वीकार (विन्त्या) ७ मरी खादि का आचन ८ धान्य आचरण ९ विद्वान्तमार्ग की कनका वीर १ कुम्भियों के प्रति द्वेष का विवेचन। इस प्रकार विवेचनीय एत हारों का उल्लेख किया है। ६ से ११ पय पर्यन्त एत हारों का विवर वर्नन किया है। १४-१५ में प्रम्बरचना का कारण ब्द कर, १६-१७ में सुनिहित धातु-हन् के पूजाचार की प्रशंसा की है। १८ में १९-४० में पय में मलकन्धेच्छ वैम्य की अपमा प्रदान कर कर्पना करते हुए उपसंहार किया है।

इस अनुवाद बार्थिक मन्त्र को भी पवित्रीये निश्चैता अग्रस्तुत प्रशंसा अर्चान्तरव्याघ सुखयोगिता एक अपमा अनुप्रासादि अर्चकरो से सजित कर अपनी बहुसुखी प्रतिमा का सुन्दर परिचय दिवा है। धान ही इस में अग्रत साईकृषिकीरित मन्कम्बन्ता सिद्धिरी द्विपरी पूष्पी मास्त्रिनी वसन्ततिकका नादि ८ पुनक् १ छन्दों में प्रथित कर छन्दसाज पर एकत्रिपल भी दिव किया है। समग्र काम्य जोन्ःगुण से परिपूर्ण होने के कारण पाठक के हृदय में भी आनन्द ही उरज कर देता है।

सङ्ग्रहक की टीकाएँ—इस रूय काम्यमन्त्र पर अनेक मनीषिओंने माध्य इति अक्षरि, कल्पवृक्षोप भादि एव कर इसकी महता, उपयोगिता स्थापित की है। वर्तमान में इस पर इति भादि ८ आठ इतियें ही प्राप्त होती है। जिसकी तास्त्रि निम्नलिखित है।

- | | | |
|-----------------------|---------------------------|-------------------------|
| १ बुद्धइति विनयस्तिरि | २ अनुइति श्रीकम्पीसेन | ३ अनुइति हर्षराज गणि |
| ४ अक्षरि ५ साङ्गुर्षि | ५ पक्षिका देवराज | ६ अनुइति विवेकराजस्त्रि |
| ७ पञ्चइति (१) x | ८ वाक्यनवोप ९ कम्पीरामन । | |

इनमें आचार्य भीमिनपतिस्त्रि की टीका सभ से बड़ी है और सर्वश्रेष्ठ भी। यह टीका अनुवाद सह पूर्वमें प्रकाशित हो चुकी है। डिा हाक यह मन्त्र अक्षरि और दो अनुइतियों के साथ प्रकाशित हो रहा है।

अक्षरिकार—महोपस्थान धातुकीर्षि खरटरगष्ठीय भीमिनमन्त्रस्त्रि की परम्परा में नाचवा-चार्य भीममरमाणिक्य के शिष्य थे। आपने १६१७ में गुगञ्चान भीमिनमन्त्रस्त्रि रचित पौषध विधिप्रकरणाइति का संशोधन किया था। १६२५ में आपरा में सम्राट अकबर की समा में वीरव विधि नियम में श्री मुद्रिसागरजी के साथ आचार्य कर उन्हें निकतर किया था। १६१९ में वैष्णव इति १५ की भीमिनमन्त्रस्त्रिजीने आपको उपाध्याय पद प्रदान किया था। १६४६ माघ वदि १४ को आमेर में आप का स्वर्णवास हुआ था। आपने अपने जीवनकाल में सप्तस्मरण पाठावबोध नादि अनेकों मन्त्रों की रचना की जिन में ११ छोटे-मोटे मन्त्र प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत अक्षरि की रचना १६१९ माघ इदि की ५ एवनी की पूर्व हुई है। यह अक्षरि होते हुए भी स्वार्थ प्रकाशित होने के कारण टीका का ही साहाय्य रखती है।

सङ्गीसेन—इसके सम्बन्ध में अन्य कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। केवल इस टीका की प्रकृति से ही ज्ञात होता है कि-ने खरटरगष्ठीय विमकपीर्षिहाके भावक वीरवास के पीन और वीरवीर

x में ५-६-७ विमरालक्षेत्राणुसार १ इसके गुगञ्चान विमनत्रस्त्रि ट. १९२-ये उद्धृत.
२. इसी मन्त्र के ट. ११ ३ इसी मन्त्र के ट. ४३-४४ को १-३-४-५.

श्री जिनवल्लभसूरि-रचित सधपट्टक वृत्ति

श्री जिनवल्लभसूरि-रचित सधपट्टक वृत्ति

श्री जिनवल्लभसूरि-रचित सधपट्टक वृत्ति

श्री जिनवल्लभसूरि-रचित सधपट्टक वृत्ति

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्री जिनवल्लभसूरि-रचित सधपट्टक वृत्ति

श्री जिनवल्लभसूरि-रचित सधपट्टक वृत्ति

श्री जिनवल्लभसूरि-रचित सधपट्टक वृत्ति

श्री जिनवल्लभसूरि-रचित सधपट्टक वृत्ति



श्री जिनवल्लभसूरि-रचित सधपट्टक वृत्ति

॥ श्रीस्तम्भमण्यार्थमाधाय नमः ॥

भीकरतरागच्छाब्जकार-नवाङ्गीवृत्तिकार-भीजिनप्रमथदेवसूरिसिष्य-कवीन्द्रशूडामणी
भीजिनवल्लभसूरिविरचितः ।

जिनभद्रसूरिशालान्तर्गत-साधुकीर्तिगणिनिर्मितावधूरीसमलकृतः

श्रीसंघपट्टकः

श्रीमत्सार्धेन नि मत्वा, सर्वसम्पत्तिशायकम् ।

संघपट्टकशास्त्रस्या-ऽधरार्थं चित्तनोम्यहम् ॥ १ ॥

इह हि पुरा वक्ष्यतामतीतिष्ये भीमवृषद्विष्णुपत्तने कुलभराजसभायां वैश्यवासिनो
विनिर्दिश्य प्राप्तस्वरतरविरुद्ः भीजिनेश्वरसूरिः, उत्पद्ये जिनचन्द्रसूरिः, तद्धिनेयः श्री
स्तम्भनकपार्थप्राकट्यकृष् नवाङ्गीवृत्तिविधाता च भीमभयदेवसूरि, तच्छिष्यः श्री
जिनवल्लभसूरिः शिष्यिष्ठाधारनिरासाय परोपकारकरणाय च भीसङ्घस्य पट्टकरूप
श्रीसंभराज्यपट्टकशालं चकार, तस्याद्यकाव्यम्—

बद्धिन्वालावलीहं कुपयमघनपीर्मातुरस्तोकलोक,—

स्यामे संदर्श्ये नाग कमठमुनितपः स्पष्टमन् हुष्टमुचैः ।

चः कावण्यामृतादिर्विद्युरमपि किञ्च स्वस्य सद्यःप्रपद्य,

माहेः कार्यं कुमार्गस्त्रलममिति जगादेव देवं स्तुमस्वम् ॥ १ ॥

क्याख्या—“बद्धि०” त देवं स्तुमः । तमिति कं ? यो भगवान् मातुरप्रे
अस्तोकलोकस्य-समस्तलोकस्य अग्रे नाम-सर्वं संदर्श्य-दर्शयित्वा प्राज्ञैः-पण्डितैः
'कुमार्गस्त्रलनं कार्यम्' इति जगादेव-इति कथयामासेव । कथम्भूत नाग ? बद्धिन्वा
लावलीहम्-बद्धिन्वालाख्याप्तम् । कथम्भूतो भगवान् ? कुपयस्य-कुमार्गस्य मघने पीः-
शुद्धिर्यस्य । पुनर्मगवान् किं कर्षन् ? उचैः-अत्यर्थं कमठमुनितपः हुष्टं स्पष्टयन्-प्रकटी
कर्षन् । कथम्भूतो भगवान् ? काल्पयमृतादिभिः-काल्पयस्यामृतस्य अग्निः-समुद्रः ।
किं कृत्वा कुमार्गस्त्रलनं कार्यं ? उवाह-‘किञ्च’ इति स्वस्य स्वस्य-आत्मनः सद्य-धीर्ष
विद्युरमपि-कष्टमपि प्रपद्य-ब्रह्मीकृत्य । इति प्रथमकाव्यार्थः ॥ १ ॥

कस्याभामिनिवेशामिति गुणमाहीति मिथ्यापद्य,-

प्रत्यर्थाति विनीत इत्युच्यते इतीषित्यकारीति च ।

वाक्षिष्यीति इमीति नीतिमूढिति स्वैर्यीति धैर्यीति सद्,-

धर्माधीति विवेकबामिति सुधीरित्युच्यसे त्वं मया ॥ २ ॥

व्याख्या-कस्या० ॥ कस्याजः-श्रुतः, अभिनिवेशः-मनःपरिणामो यस्वेति

कस्याभामिनिवेशवान् इति । गुणमाहीति । मिथ्यापद्यस्य-ह्युमार्गस्य प्रत्यर्था-धैरी, इति ।

विनीत इति । अशुभः-सरल(इति) औचित्यकारीति-योग्यताकारीति । च-पुनः

वाक्षिष्यीति । इमी-चित्तेन्द्रिय इति । नीतिमूढ-न्यायमार्गचारक इति । स्वैर्यी-

स्विरत्ववान् इति । धैर्यी-धीरत्ववानिति । सद्दर्शस्याधीति । विवेकबामिति । सुधीः-

सुसुद्धिरिति । हे शिष्य ! एवंगुणविशिष्टस्त्वम्, अत एव मयोच्यसे त्वमिति, त्वां प्रत्यहं

पश्यीति काव्यार्थः ॥ २ ॥

इह किञ्च कलिकाळक्याळवक्त्रान्तराल-किञ्चित्तुपि गततत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारे ।

प्रसरदनबोधप्रस्तुरत्कापधौष,-सगितसुगतिमार्गे सम्प्रति प्राणिवर्गे ॥ ३ ॥

प्रोत्सर्प्यस्यसिप्रहसकत्वक्षमाभ्यसाभ्राज्यपुष्प,-

मिथ्यात्ववान्तराले बगति विरलतां याति जैनन्त्रमार्गे ।

सङ्कलिष्टद्विष्टमूढप्रकाळबडबनाभ्रापरफेर्जिनोक्ति,-

प्रत्यर्था साधुधैर्यैर्विपयिमिरमितः सोऽप्यमभाषि पन्थाः ॥ ४ ॥

व्याख्या-इह० ॥ प्रो० ॥ विपयिमिः-विषयसेवकैः साधुधैर्यैः-लिङ्गधारि-

मिर्हीनाचारैः चैत्यवासिभिः भ्रमिताः-समन्तात् सोऽप्य पन्था-मार्गः अप्रापि-विन्तारितः॥

क सति ? सम्प्रति इह-दुष्पमाकाले किलेति सत्ये प्राणिवर्गे एवंविधे सति । कथम्भूते

प्राणिवर्गे ? कलिकाळ एव-दुष्पमाकाल एव व्यालः-सर्पस्तस्य वक्त्रान्तरालं-दुस्मान्त

राल, तत्र स्थितिः-स्थानं तां लुपते-सेवते यः सः । पुनः कथम्भूते ? गततत्त्व-

प्रीतिनीतिप्रचारे-गतौ तत्त्वप्रीतिः, नीतिप्रचारस्य न्यायप्रचारस्तौ यस्य सः । पुनः

कथम्भूते ? प्रसरत्-प्रसरणशीलो योऽनबोधः-प्रज्ञानं तेन प्रस्तुरत्कापधौषः-ह्युमार्गे

समूहस्तन सगितः-भ्रान्छादितः सुगतिमार्गः-द्वगत्यादिमन्त्रधो यस्य सः ॥३॥

पुनः क सति ? बगति जैनन्त्रमार्गे विरलतां याति सति । कथम्भूते जैनन्त्रमार्गे ?

“ प्रोत्सर्प्य ” प्रोत्सर्पन्-उच्छ्रित् यः मस्मराशिप्रहस्तस्य सखा-मित्रं यश्चमाभ्यर्ष्यम्-

असपतिपूजालक्षण तस्य साम्राज्यं तन पुष्पन्-प्रबर्द्धन् मिथ्यात्वमेव चान्त-तमस्तेन

रुद्धे । कपम्भूतेः साधुषेपैः ।, सङ्कलितो-रौद्राभ्यवसायवान् द्विष्टो-मत्सरी मूढः-भूसेः
प्रखलः-दुर्धन बद्धः-दुर्मेधा एषम्भूतो यो मनस्तस्य सङ्गस्तस्य आम्नायः-परम्परा तत्र
रक्तौ । कपम्भूतः पन्था ? विनोक्तेः-मगबद्धचनस्य प्रत्यर्षीति काव्यार्थः ॥ ४ ॥

अथ द्वारमाह—

पत्रीदेशिकमोहनं मिनगृहे वासो वसत्यङ्गमा,
स्वीकारोऽर्पगृहस्यवचैन्नसदनेऽप्रेक्षिताघासनम् ।

सावधाचरितादरः भ्रुतपवाऽपद्मा गुणिर्द्वेषीः,—

धर्मः कर्महरोऽत्र चेत्यपि मन्वेहेस्तदाऽप्यौ तरेत् ॥ ५ ॥

व्याख्या-यत्रौ० ॥ यत्र मार्गे औद्देशिकस्य-आषाकर्मणो मोहनम् ॥ १ ॥
मिन गृहे वासः-वसनम् ॥ २ ॥ वसत्यङ्गमा-वसतिम्-उपाभ्य प्रति अङ्गमा-
मास्वर्गम् ॥ ३ ॥ अर्थः ॥ ४ ॥ गृहस्यः ॥ ५ ॥ चेत्यसदनेषु-चेत्यगृहेषु स्वीकारः
॥ ६ ॥ अप्रेक्षितादि-अप्रमार्जितादि आसनम् ॥ ७ ॥ सावधाचरणापामादरः ॥ ८ ॥
भ्रुतपयस्य-सिद्धान्तमार्गस्य अपद्मा-हीला ॥ ९ ॥ गुणियु द्वेषीः ॥ १० ॥ अत्र पथे-
दशद्वारसंयुक्ते वेदु-यदि धर्मः कर्महरः स्याद्यदा मेरुपर्वते 'अध्वौ तरेत्' इति निषेध
वाक्य, कदापि न भवति ॥ ५ ॥

औद्देशिकमोहनद्वारं व्याख्यानयति—

पट्टकायामुपमर्षं निर्दयसुपीनाषाय परसाभित्,

शास्त्रेषु प्रक्षिपिष्यते यत्सङ्गमिस्त्रुताऽऽनापि यत् ।

गोमांसाद्युपम यदाहुरव यद् मुक्त्वा यतिर्षोऽप्यः,

तत्को नाम त्रिपिस्सतीह सधृजः सङ्गादिमच्छं विदम् ॥ ६ ॥

व्याख्या-पट्ट० ॥ पट्टकायान्-पृथिव्यादीन् निर्दयम् उपमर्ष-आरम्य यद्
आषाकर्म शपीन्-साधून् आषाय-मनस्यवधार्य साधितं-निष्पादितं यत् शास्त्रेषु
असङ्गत्-वारंवारं प्रक्षिपिष्यते, यत्पुनर्निस्त्रि(स्त्रु)श्रुताप्रापि-निस्त्रिश्रुतायाः-निःशूक-
त्वस्य आषापि-कारक यद् गोमांसाद्युपम-गोमांसादितुरयमाहुस्तीर्थकराः, अथ पट्ट-
अश्वन मुक्त्वा यतिः अधः-नरके याति । एव रूपवस्थानमाषाकर्म तत् सङ्गादिनिमित्त
मद्यन तदिति क्रोमलामन्त्रणे इह-अगति कः सधृज -सद्यो त्रिपिस्सति-भोक्तुमिच्छति ?
किं हर्षन् ? विदन्-जानन्, एतापवा ज्ञात्वा न क्रोडपि भोक्तुमिच्छतीति ॥ ६ ॥

—पुनरपि तद्वृद्धारमेवाह—

चित्रोत्सर्गापवादे यन्निह शिवपुरीदूतभूते निष्ठीये,
 प्रागुक्त भूरिमेवा गृह्णित्वा बसतीः कारणेऽपोष पश्चात् ।
 स्त्रीसंसक्त्यादियुक्तेऽप्यभिहितयतनाकारिणं संयतानां,
 सर्वत्रागारिषाम्नि न्ययन्ति न तु मठः कापि चैत्ये निवासः ॥ ९ ॥

व्याख्या—चित्रो० ॥ यत्—यस्मात्, इह—प्रवचने निष्ठीये—निष्ठीयग्रन्थे
 निष्ठीयनाम्नि छेदग्रन्थे सर्वत्र अगारिषाम्नि—भाद्रगृहे संयतानां—साधूनां निवासो
 न्ययन्ति—मियमेन प्रतिपादितः । कथम्भूते निष्ठीये ? चित्रोत्सर्गापवादे—चित्रो—नाना
 प्रकारौ उत्सर्गापवादा नयौ यत्र तत्, सत्र नयद्वयस्य विस्तरव्याख्याऽस्तीति । पुनः
 किम्भूते ? शिवपुरीदूतभूते—शिवपुर्याः—मोक्षनगर्या दूतभूते सत्र ग्रन्थे प्राक्—प्रथम
 भूरिमेवाः—अनेकप्रकाराः गृह्णित्वा बसतीः—गृह्णित्वा गृहमेव बसतयः—उपाभयास्ता उक्त्वा
 पश्चात्कारणे सति अपोष—अपवादविषयीकृत्य पूर्वमुत्सर्गेण 'स्त्रीसंसक्त्यादियुक्ते
 उपाभये न वस्तव्य माधुना' इत्युक्त पश्चात्पश्चादमार्गेण तत्र बसनीयमित्यपि
 प्रोक्तम् । कथम्भूत अगारिषाम्नि ? स्त्रीसंसक्त्यादियुक्तेऽपि—स्त्रीपञ्चपण्डकानां संसर्गादि
 युक्तेऽपि बसनीयम् । कथम्भूतानां संयतानाम् ? अभिहित—यतनाकारिणाम्—अभि
 हिता—प्रोक्ता या यतना—परिच्छेदादानरूपा तत्कारिणाम् । एवमुत्सर्गेण अपवादेनापि
 गृहस्वगृह एव बसनीय न पुनः कापि चैत्ये निवासोऽनुमतः ॥ ९ ॥

प्रवचनप्रतिपत्तिन ननु धर्मस्वीकारमाहुर्भिनाः,
 सर्वारम्भपरिग्रह स्वस्तिमहासाधयमाचक्षते ।
 चैत्यस्वीकरणे तु गर्हिततम स्वाग्नाठपत्य यते,—
 रिष्येभं प्रतयैरिष्णीति ममठा युक्ता न मुत्सर्धिनाम् ॥ १० ॥

व्याख्या—प्रव० ॥ ननु—निश्चित भिनाः—तीर्थकराः धर्मस्वीकारम्—अर्थाङ्गीकारं
 प्रवचनप्रतिपत्तिन—दीक्षाविरोधिनम् आहुः—कथयन्ति तु—पुनः सर्वारम्भपरिग्रहं,
 सर्वारम्भिणां—गृहस्थानां परिग्रह—स्वीकारं ममैते गृहस्था इति, अतिमहासाधयम्—
 अत्यन्त महापापम् आचक्षते वदन्ति । तु—पुनः यतेः—साधोः चैत्यस्वीकरणे—चैत्यममस्ये
 गर्हिततमम्—अत्यन्तगर्हणीय माहवत्यं—मठपतिव्यं स्यात् । इत्येवप्रकारेण मुत्सर्धिनां—

मुक्तेः प्रार्थकानां साधूनां ममता न मुक्ता, कथम्भूता ममता ? अतवेरिणी, इति-अर्थ-
गृहस्वचैत्यस्वीकारः । इति द्वारत्रयं व्याख्यातम् ॥ १० ॥

भवति निवृतमत्रासंभमः स्वादिमूषा, नृपतिकृद्भवेतल्लोकशासत्र मिथोः ।

स्फुटतर इह सङ्गः सातशीलस्वमुचै-रिति न कल्ल मुमुक्षोः संगत गच्छिकाऽपि ॥ ११ ॥

व्याख्या—भवति० ॥ अत्र-गच्छिकाघासने नियतं-निश्चितम् असंभमो भवति
गच्छिकादीनां प्रसिद्धेऽपि तु मञ्जक्यत्वात् । विमूषा-श्लोमा स्यात् महापुरुषसेवनीयत्वात् ।
एतद्-भासनसेवनं नृपतिकृद्-राजपिह्व च पुनः मिथोः-साधोः लोकशासः स्यात्-
'अहो ! मुञ्चितोऽप्येकविधासनेषु उपविशति' इह गच्छिकासने सगपरिग्रहः स्फुटतरः-
प्रकटतरः उचैः-अत्यर्थं सातशीलत्वं-मुत्सलम्पटत्वम् । इति हेतोः सङ्ग-निश्चितं मुमुक्षोः-
साधोः गच्छिकादि, आदिशब्दात् मञ्जरुसिंहासनादेः परिग्रहः, तत् न संगत- न युक्तम् ।
अप्रेक्षिताघासनद्वारं व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

सावधाचरितद्वारमाह—

गृही निवृतगच्छमाग् विनगृहेऽधिकारो यतेः, प्रदेयमञ्जनादि साधुषु यथा उवाऽरम्भिमिः ।
व्रतादिभिश्चिबारणां सुविहितान्तिकेऽगारिणां, गठानुगतिरैरहः कथमसंस्तुत प्रस्तुतं ॥ १२ ॥

व्याख्या—गृही० ॥ गृही-भावकः नियतगच्छमाह, नियतं-निश्चितं स्वयच्छ-
मेव भवतीति नियतगच्छमाह, स्वगच्छं मुक्त्वाऽन्यत्र न गन्तव्यम्, यतेः-साधोः-
विनगृहे-चैत्येऽधिकारः-तन्निन्ताकरणं 'प्रदेयमञ्जनादी' स्यादि, आरम्भिमिः-गृहस्वैः
साधुषु अञ्जनादि-अञ्जनपानस्नादिमस्वादिमादि यथातथा-येन तेनापि प्रकारेण प्रदेयं
तत्राञ्जनादानेऽपि दोषो न अगारिणां-गृहस्थानां सुविहितान्तिके-साधुसमीपे व्रतादि
विधिबारण साधुसमीपे शीलव्रतादि नाङ्गीकरणीय गतानुमतिकैः-एवकान्तप्रवाहपतितैः
चैत्यवासिमिः अहः-पूर्वोक्तम् असंस्तुतम्-अयुक्तं कथ-केन प्रकारेण प्रस्तुत-
प्रारम्भम् ॥ १२ ॥

भुवपथावकाद्वारमाह—

निर्वाहार्थिनमुञ्चितं गुणस्यैरक्षातशीलाम्बव,
तादृग् ब्रह्मवत्तुणेन गुणजा लार्वाय मुञ्चीकृतम् ।
वद्विभ्यावगुणाम्बया अपि जना लभोमगच्छमहा,-
इवेभ्योऽधिकमर्थमस्ति महतो मोहस्य तन्मिमत्तम् ॥ १३ ॥

ध्यास्या—निर्याहा० ॥ यत्-पस्मात्कारणात् एवविधा जना एवविधं गुरुं
 देवेभ्योऽधिकमर्षयन्ति तत् महत्-प्रबलस्य मोहस्य-मोहनीयकर्मणो ऋम्मित-
 महात्म्यम् । कथम्भूत गुरु ? निर्वाहाधिन-निर्वाहस्य-उदरमरणस्यार्थिनम् । पुनः
 किम्भूतम् ? गुणलभैः-गुणलेखै रन्वित-रयक्तम् । पुनः किम्भूतम् ? अज्ञातशीलान्वयम्-
 अज्ञात शीलम्-आचारः अन्वयश्च-कुलं यस्य स (तम्) । पुनः किम्भूतम् ? तादृश्वश्रम
 तद्गुणेन गुरुणा क्षिप्यतुरयाज्ञाताविषयेन तद्गुणेन-क्षिप्यतुल्यगुणेन एवविधेन गुरुणा स्वा
 र्थाय-स्वोदरमरणाय मृण्डीकृत तादृशतादृशमेव मृण्डीयते । कथम्भूता जनाः निरम्यात
 गुणान्वया अपि विस्पाताः-प्रसिद्धाः गुणान्वयो बन्धो येषां ते सगुणाः-सुकुलोत्पन्ना
 अपि । पुनः किम्भूताः ? लघोप्रगच्छप्रहाः, लघु उग्रः-उत्कटो गच्छप्रहो येषां ते ॥ ११ ॥

पुनरप्येतद्द्वारमाह—

दुष्प्राया गुरुकर्मसंप्रयवतां सदर्मपुद्गिनृणां,
 जात्यायामपि दुर्लभः शुभगुरुः प्राप्तः स पुण्येन चेत् ।
 कर्तुं न स्वहितं तथाऽप्यलममी गच्छस्वितिम्याहताः,
 क म्भूतः कनिहाभयेमहि कमाराप्येम किं कर्महे ॥ १४ ॥

ध्यास्या—धुष्प्राया० ॥ गुरुकर्मसंप्रयवतां-गुरुकर्मसम्पूहवतां नृणां सदर्म
 पुद्भिः-प्रधानधर्मपुद्भि दुष्प्राया गुरुकर्मत्वात् सदर्मपुद्भिर्न कदाचित् सदर्मपुद्भि जाता
 यामपि पुनरपि शुभगुरुः दुर्लभः-दुष्प्रायः चद्-यदि स गुरुः पुण्येन प्राप्तः, तथापि-एव
 सामग्रीयोगेऽपि ममी भाद्राः स्वहितं कर्तुं नाल-न समर्थाः । कथम्भूता जनाः ?
 गच्छस्वितिम्याहताः-गच्छस्वित्या-गच्छमर्पाद्या व्याहताः-बन्धीकृताः । एव स्थिते क
 पुरुष म्भूतः, क पुरुषम् इह-जगति आथपमहि-अरण्य प्रपद्येमहि, क पुरुषम् आराप्यमहि-
 आराप्यामः किं कर्महे ॥ १४ ॥

धुष्प्रायः किञ्च कोऽपि रक्षतिशुभः प्रपद्य चेत्ये कश्चिद्,
 कथा कथम पक्षमक्षितकलिः प्राप्तवताचार्यकम् ।
 विभं येतवृद्ध गृही यति निजे गच्छे कुटुम्बीयति
 एव ज्ञात्रीयति वातिनीयति पुषाम् विश्व वराधीयति ॥ १५ ॥

ध्यास्या—धुष्प्रायाम० ॥ किञ्चित् संभाषनायां कोऽपि धुष्प्रायः-धुष्प्रा
 यामः-धीनः धुष्प्रायः एवम्भूतो रक्षतिशुभ -रक्ष्म्यवालः स वैराग्यामावऽपि कश्चिद्

बिनगृहे चैत्ये प्रवक्ष्य-दीर्घां गृहीत्वा ततः कञ्चन पुरुषं पद्य-स्ववद्य कृत्वा क्रमेण
 तत् आचार्यकम्-आचार्यस्यं प्राप्तः । कथम्भूतः सः ? अक्षितकलिः-अक्षितः-अनिष्टः
 कलिः-कलहो यस्य स कलहयुक्तः । एतत् चित्रम्-आश्चर्यं स आचार्यपदवीप्राप्तो
 निर्गुणोऽपि चैत्यगृहे गृहीयति-'ममेदं चैत्य'-मिति गृहस्वधदाचरति । निम्ने मच्छे
 कृतुन्वीयति-कृतुम्निपुरुषवदाचरति । स्वम्-आत्मानं शक्रीयति-शक्यत्-इन्द्रवदाचरति ।
 पुषाम्-पश्चिदात् बालिष्ठीयनि-धूर्त्वीयति । विश्व-अगत, पराकीयति-पराक्यदाचरति
 चैत्यवासिषु एतत् साध्याद् वक्ष्यते ॥ १५ ॥

पुनरपि श्रुतपञ्चानङ्गादारमाह—

येर्जातो न च वर्द्धितो न च न च क्रीतोऽपमर्षो न च,
 प्राग्गृहो न च वाग्धरो न च न च प्रेषाभ च प्रीणितः ।
 तैरेवाभ्यमाचमैः कृतमुनिव्याघैर्ब्रह्माद् वाहते,
 न स्योतःपशुवज्जनोऽयमनिश मीराजकं हा ! अगत ॥ १६ ॥

व्याख्या—येर्जातो० ॥ येः-द्विचिताचारिगुरुभिः अप्य जनः-आइलोकः
 पितृरूपेण तेन न जनितः-अन्म प्रापितः, च पुनः वर्द्धितः-वृद्धिं नीतः, न क्रीतः-
 मृत्येन गृहीतः, न च येषां गुरुणाम् अचमर्षाः-अर्षदाता, न च ब्राह्मकस्तु उचमर्षः,
 प्राग् प्रथमं दृष्टः-विशोकितः, न च तेषां वाग्धवः-आवा, न च प्रेषान्-बल्लभः, न च
 यैर्गुरुभिः प्रीणितः-अर्षादिप्रदानेन सन्तोषितः, न च तैरेव गुरुभिः अनिश-निर-
 न्तरम् अप्य जनः बलात्-हठात् नस्योतः पशुवत्-तस्त्वत् रूपमवत् पाहते-इतस्ततो
 आम्पते । कथम्भूतेस्ते ? अत्यचमाचमैः-अति अत्यर्षम् अचमेभ्योऽचमाः । पुनः
 कथम्भूतेः ? कृत-मुनिव्याघैः-विदितमुनिकपटैः, अत एव 'हा !' इति खेदे अगत
 मीराजकम्-अभिपतिविद्युक्तं, यस्यान्ने पूतिक्रियते स राज्ञा नास्तीति ॥ १६ ॥

किं दिङ्मोहमिताः किमभ्य-अभिराः किं भोगचूर्णीकृताः,
 किं वैशोपहवाः किमङ्ग ' ठकितः किं वा महावेसिताः ।
 कृत्वा मूर्द्धिपत् श्रुतस्व बरमी दृष्टोद्वेषा अपि,
 व्याहृतिं कुपवाञ्जहा न वपतेऽस्यमिति चेतच्छते ॥ १७ ॥

व्याख्या—किं दिङ्मोहा० ॥ ममी अहाः-मूर्त्ताः किं दिङ्मोह-दिङ्माभमम्
 इताः-प्राप्ताः ? । किम् अचभभिराः-अचाम्य भभिराम्य, भवणविक्रमः पादविप्रलेपादि

योगः, अङ्गनादि घूर्ण, योगघूर्णकृताः-मस्तकादिषु योगघूर्णप्रत्येपेण षष्ठीकृताः । किं
 देवोपहृताः-देवेन-प्रतिकूलदेवेन किमुपहृताः । किमङ्ग ठकृताः-‘अङ्गे’ति कोमला
 मन्त्रणे किं ठकृताः-घूर्णेण च षष्ठीताः । किं वा ग्रहावेष्टिताः । ग्रहेः-व्यन्तरा
 दिभिः आवेष्टिताः-अभिष्टिताः । एते तस्य न जानन्तीति दृष्टान्ताः । यतः-यस्मात्
 अमी षष्ठीः कृपयात्-कुमार्गात् व्यावृत्ति-निवृत्ति न दधत-न कुर्वन्ति । किं कृत्वा ।
 ध्रुवस्य-सिद्धान्तस्य मूर्च्छि-मस्तके पत्र-पाद कृत्वा-सिद्धान्तोक्तमविगणय्येत्यर्थः ।
 कथम्भूता षष्ठीः । दृष्टोरुदोषा अपि, दृष्टा उरुषः-गरिष्ठा दोषा यैस्ते, प्रत्यक्षतो
 दोषान् पश्यमानाः कुमार्गनिवृत्ति न कुर्वन्ति अथ एव दिङ्मोहादिविश्लेषणम् । च-पुनः
 एतत्कृते-कृपयव्यावृत्तिकृते पुरुषा ये अस्यन्ति-ईर्ष्यां कुर्वन्ति, स्वयं कृपयव्यावृत्ति न
 कुर्वन्ति, ये कुर्वन्ति तेभ्यो षष्ठी अस्यन्तीति विश्लेषणसफलता ॥ १७ ॥

श्रुतपद्यावस्थाद्वारमाह—

इष्टावातितुष्टनटविटमटपेटकपेटकाकुल,

निघुवनविधिनिषद्भरोद्भवनरनारीनिकरसङ्कलम् ।

रागद्वेषमत्सरेर्ष्यो पनमषपष्टे निमज्जन,

जनयस्येव मूढजनविहितमविधिना जनमज्जनम् ॥ १८ ॥

व्याख्या—इष्टायासि० ॥ अविधिना-अविधिप्रकारेण रात्रौ इत्यर्थः, मूढ
 जनविहित-मूर्खलोककृत जनमज्जनं-तीर्थकरस्नात्रम् अपपष्टे निमज्जन-पापपष्टे मुढन
 जनयस्येव-करोत्येव । एषकारो निषयार्थे । किम्भूत रात्रिस्नानम् । इष्टानासितुष्टविट
 नटमटपेटकपेटकाकुलम्-इष्टा-वच्छमा स्त्री रात्रावागता तस्या अवासि-प्रासिस्तया
 तुष्टा-सन्तुष्टा य विनाः-वेद्यपापतया, नटाः-नाटकिनः, मटाः-सुमटाः, चेटकाः-
 दायास्तेषां पटकं-समुदायस्तन आकुलम्, रात्रौ प्रायस्त समागच्छन्ति । पुन कि
 म्भूत । निघुवनविधि निघुवन-भैषुन तस्य विधि-विलसित, सत्र निषद्-कृतो
 दोहदा-अभिलाषो येन सत् । एवविध नरनारीनिकरं-मनुष्यस्त्रीषुन्द तेन सङ्कल-व्याप्तम् ।
 पुनः किम्भूत । रागद्वेषमत्सरेर्ष्यापनं, रागः-स्नहः, -द्वेषः-क्रोधः, मत्सरः-क्रोधविश्लेषः,
 परगुण्याऽसहिष्णुता-ईर्ष्या-स्ववृत्तमां परण चरन्तीं दृष्टा क्रोचकरण, तेषु-निविड
 पङ्कतपादिविनादिसंमर्दांश्च रात्रौ निविडं मगवत्स्नात्र पट्टमज्जनप्रवृत्तिस्थाप ॥ १८ ॥

जिनमतविमुक्तविहितमहिताय न भक्षणमेव केवलं,
किन्तु तपश्चरित्र-दानाद्यपि जनयति न क्वलु शिवफलम् ।
अविधि-विधिक्रमाजिनाद्यापि ह्यभुय-ह्युभाव वायते,
किं पुनरिति विद्वन्वैवाहितहेतुर्न प्रथायते ॥ १९ ॥

ध्याख्या-जिन० ॥ भक्षणमेव-स्नात्रमेव जिनमतविमुक्तविहितं-जिनमतात्-
मगबन्मतात् विमुक्तं-विपरीतम् अविधितया विहितं-कृतं कवलं-निकवलम् अहिताय न
किन्तु तपश्चरित्रदानाद्यपि-तप-भनक्षनादि, चारित्र्यं-देशसर्बविरतिरूप, दानम्-भ्रमया
दिरूपम्, आदिशब्दाद् विनयवैयाहृषयादिग्रहण, तत्रपि अविधिकृत स्तु-निमित्त शिव
फल-मुक्तिफलं न जनयति, हि-निमित्तं जिनाद्यापि-मगबदाद्यापि अविधिबिधिक्रमात्-
अविधिबि विधिब तयोः क्रमात् अह्यमह्यमाय ज्ञायते-भवति, अविधिना अह्यमाय,
विधिना ह्यमाय किं पुनरिति विद्वन्वैवाहितहेतुर्न प्रथायते, इत्यसुना प्रकारेणाऽविधि-
क्रियाविद्वम्बना एवाहितहेतुप्रहितस्य संसारस्य हेतुः कारण किं पुनः न प्रथायते न
विस्तार्यते अपितु विस्तार्यत एव एतावता अविधिक्रिया विद्वम्बना एव अहितहेतुष
कथ्यत एव ॥ १९ ॥

जिनगृह-जिनबिम्ब-जिनपूजन-जिनयात्रादि विधिकृत
दानतपोव्रतादिगुरुभक्तिभुवपठनादि षाट्ठम् ।
स्यादिह ह्यमतकुगुरुकुप्राहकुबोधैसनांशतः,
स्फुटमनमिमवकारित वरभोसनमिब विपलवनिषेसतः ॥ २० ॥

ध्याख्या-जिन० ॥ जिनगृह-जिनमभन, जिनबिम्ब-भगवत्प्रतिमा, जिन
पूजन-मगबत्पूजा, जिनयात्रा-त्राष्टिकादिमहोत्सवः, आदिशब्दाजिनप्रतिष्ठाविग्रहः,
एव धर्मकृत्यं विधिकृत-शास्त्रीकप्रकारेण विहितं दानम्-भ्रमयदानादि, तपः-द्राव्य
प्रकारं, व्रतानि-स्पूलप्राप्तिपाठविरमभानि, आदिशब्दात् अमिग्रहादिः, गुरुभक्तिः-
धर्माचार्यभक्तिः, भुवपठन-सिद्धान्तपठनम्, आदिशब्दात् सिद्धान्तार्थभ्रमयादिग्रहणं,
य पुनः आदृतम्-आदरण कृतम्, एतत्सर्वम् इव-त्रवधने ह्यमत-ह्यगुरु-ह्यप्राह-ह्यबोध
कुदेसनांशतः-ह्यमत-परतीर्थिकमत, ह्यगुरुः-सिद्धान्तार्थमोटकाः, ह्यप्राहः-कदाग्रहः,
ह्यबोधः-इतिवत्ज्ञान, ह्यदशना-ह्यधर्मरूपा वासात् अंशः-लेखस्तस्मात्, स्फुटं-प्रकम्,
मनमिमवकारि-अनिएकारि संसारकारण स्यात् । एतान्तमाह-विपलवनिषेसतो वर

मोक्षनमिदं, यथा विपलप्रवेक्षेण वरमोक्षन-प्रधान मोक्षनमपि अनिष्टकारि तथा विधि
धर्मकृत्यमपि कृतमतिदुर्गुणादिद्वेषनामिदं संसारकारणमिति ॥ २० ॥

आकण्डुं मुग्ध-मीनाम् बद्धिपिशितबद्धिम्बनादरूपं जैमं,
तन्नाम्ना रम्यरूपानपवर-कमठाम् स्वेष्टसिद्धये विधाप्य ।
यात्रा-स्नात्रापुपायैर्ममस्तिष्ठ-निशाशागरादिच्छलैश्च,
महासुनाम जैनैश्चस्ति इव शठैर्ब्रह्मपते हा ! जनोऽयम् ॥ २१ ॥

व्याख्या-आकण्डुं० ॥ नाम जैनैः-नाममात्रेण जैना नामजैनास्तैः-लिङ्ग-
धारिभिः 'हा' इति खेदे अयं भद्रालुर्धनः-आयकप्रनो ब्रह्मपते-परासुस्याते । कथम्भूत
नामजैनाः ? शठैः-भूतैः । कथम्भूतः भद्रालुः ? छलित इव-व्यन्तराभिष्टित इव प्रथित
इव । छलनप्रकारमाह-मुग्धमीनान्-मूर्खमत्स्यान् आकण्डुं-आकर्षितुं बद्धिपिशितवत्-
बद्धि-मत्स्यग्रहणाय लोहकण्टक, तत्रपिशित-मांसबोटक तद्रत् जैमं विम्बं-विनप्रतिमां
आदर्भ-दर्शयित्वा, यथा, मांसखण्डेन मत्स्या बध्नीक्रियन्ते तथा मुग्धप्रतारणाय
तेरपि जैनविम्बं दर्शितम् । ननु विनविम्बस्य कथं बद्धिपिशितोपमा ? उच्यते-अविधि
प्रकृतस्य हीनाधारिप्रतिष्ठितस्य पुत्रैव न तु विधिप्रतिष्ठितस्य । पुनः किं कृत्वा ?
तन्नाम्ना-विननाम्ना रम्यरूपान्-मनोहरस्वरूपान् अपवरकमठान्, अपवरकाः-अन्त
नीलया मठाः-स्नानविशेषास्तान् विधाप्य-काराप्य, कस्यै ? स्वेष्टसिद्धये-स्वस्येष्टसाध
नाय, 'अस्माकमिष्ट मविष्यता'-मिति मियेन भगवद्भाण्डागारमठादिनिर्माण
कारयन्ति । ते पुनः कैः आह्वानं छलन्ति ? यात्रास्नात्रापुपायैः, यात्रा-पूर्वप्राप्त्येक्षेण
विनगृहे यात्रा स्नात्र च कर्त्तव्यम्, आदिशब्दात् भुवानुक्तपूर्वग्रहः, एवंप्रकार उपायः-
मिपः, सैः । पुनः नमसितकनिशाशागरादिच्छलैश्च, नमसितकमिनादीन् उद्विष्य द्रव्ये
सितत्वकरणम् उपद्रवनिवृत्तये इयद् द्रव्यं व्ययामीति नियमाकरणं निशाशागरो-रात्रि
आगरणम् आदिशब्दात् शान्तिकपोटिकादिग्रहः, एतच्छलैश्च-एतत्प्रकारं दर्शयित्वा
जनान् ब्रह्मयन्ति । अनेन काश्चैन अविधिविनविम्बपात्रास्नात्रनमसितकनिशाशागरण
निषिद्धं, विधिना तु सर्वे कर्त्तव्य, एतत्कर्त्तव्यस्य सप्तमकाण्डे विद्विततमकाण्डे पूर्वोक्ते
स्थापितत्वादिति ॥ २१ ॥

सर्वत्रारथगिताश्रयाः स्वविषयव्यासच्छसर्भेन्द्रियाः,
वसाद्गौरवचण्डवण्डतुरगाः पुण्यत्कपाधोरगाः ।

सर्वाङ्गकृतोऽपि कष्टमनुनान्त्याभ्यैरात्माभिताः,
स्थित्वा सन्नुनिमूर्खैस्तद्विषयस्तुष्यन्ति पुष्यन्ति च ॥ २२ ॥

व्याख्या—सर्व० ॥ अहो ! कष्टं एवंविधा हीनाचारिणोऽधुना सन्नुनिमूर्खसु—सस्ता
धुमस्तकेषु स्थित्वा तुष्यन्ति—तोषं प्राप्नुवन्ति, च पुनः पुष्यन्ति—वर्द्धन्ते । कश्चभूताः
(हीनाचारिणः) ? सन्त्र अस्पगितास्रवाः—प्रनाच्छादितास्रवाः । पुनः किम्भूताः ?
स्वविषयेषु—आत्मात्मविषयेषु व्यासक्तानि—व्यापारितानि सर्षेन्द्रियाणि—स्पर्धनादीनि
यैस्ते । पुनः किम्भूताः ? षलान्तः—उच्छलन्तः गौरवैः धातादिभि चण्डा—रौद्रा
दण्डा—मनोदण्डादिकास्तुरगा येषां ते दण्डानां अपलत्वात्तुरगोपमानम् । पुनः कश्च
भूताः ? पुष्यत्कृपायोरगाः, पुष्यन्तः—प्रसर्धमानाः कृपायोरगाः—कृपायसर्पा येषां ते ।
पुनः किम्भूताः ? सर्वाङ्गस्यकृतोऽपि—सर्वाङ्कार्यकारका अपि । पुनः किम्भूताः ?
अन्त्याभ्यै रात्माभिताः, अन्त्यमाभ्यैर्म—असंयतपूर्वालक्षणं तदेव रात्मा तदाभिताः ।
पुनः किम्भूताः ? उद्वतविषयः—उत्कृष्टबुद्धयः ॥ २२ ॥

सर्षारम्भपरिग्रहस्य गृहिणोऽप्येकाक्षनाथेकवा,
प्रत्याख्याय न रक्षितो हृदि भवेत्तीप्रोऽनुतापस्तथा ।
वृद्धस्वक्षिषिषं शिषेन्ननुविम प्रोष्यापि मज्जन्ति ये,
तेषां तु क तपः क सत्यवचन क ज्ञानिता क व्रतम् ? ॥ २३ ॥

व्याख्या—सर्षा० ॥ सर्षारम्भपरिग्रहस्य—सकलसावयवव्यापारवचनवायादिसङ्ग-
हतस्वरस्य गृहिणोऽपि—गृहस्यस्य एकाक्षनादि—एकवारमशन यत्तत् एकाक्षनं तदादिर्य
स्य सत् एकाक्षनादि, आदिसव्यात् निर्बिकृत्तिकादि प्रत्याख्यातम् एकदा—पर्षादिदिषसे
प्रत्याख्याय—कृत्वा कश्चाचिद् विस्मरणेन न रक्षितस्तस्य रक्षणं न कृत चेद् मज्जः
स्यात्तदा हृदि तीप्रोऽनुतापा—पश्चात्तापो भवेत्—‘अहो ! मया मन्दभाग्येन प्रत्याख्यान
भग्नम्’ । ये हीनाचारिणः पट्टकृत्वाः—पट्टभारान् शिषारं—स व्याप्रतिक्रमये शिषारं प्रातः
प्रतिक्रमये इति त्रिविधं, शिषा—मनोवाङ्मायैः—करमकारणानुमतिवर्धनेनेति, अनुदिन-
निरन्तरं प्रोष्य—शुद्धे उच्चार्यापि मज्जन्ति तेषां तपः क ?, सत्यवचन क ?, ज्ञानिता
क ?, व्रतं क ? अपि तु न कथञ्चित् ॥ २३ ॥

देवार्थव्ययतो यथाहभिकृते सर्वैर्चुरण्ये मठे,
निरत्यस्याः सुविपट्टुषदायनाः सङ्गिदिकायासनाः ।

सारम्माः सपरिमहाः सविषयाः सेर्ष्याः सकाङ्क्षाः सदा,
साधुष्वाङ्घ्रिता अहो ! सितपटाः कष्टं चरन्ति प्रवम् ॥ २४ ॥

व्याख्या—देवा० ॥ अहो ! इति आभयै सितपटाः—श्वेताम्बराः प्रथमं कष्टं-
दुःखतया चरन्ति—समाचरन्ति । किम्भूताः ? मठे—स्वस्थाने नित्यस्थाः—नित्यवासिनः ।
कचम्भूते मठे ? देवार्थव्ययतः—देवद्वयव्यययाद् यथाकृच्छ्रिते—स्वेच्छया विरचिते, ते
स्वेच्छाचारिणो देवद्वय स्वस्थानेषु लगयन्ति । पुनः कचम्भूते ? सर्षरिर्गुरम्ये—अनेक
मालिकागवाधादिकरमे पहरितुमनोहरे । पुनः किम्भूतास्ते ? श्लेषाः—पवित्रा याः
पङ्क्तयो—हसकृतादिमयाः श्रुत्याविश्लेषास्तत्र श्रयनाः । पुनः किम्भूताः ? सद्भ्यदिका
घासना—प्रधानगच्छिकाघासनाः, आदिशब्दान्मसुरकादिग्रहः । पुनः किम्भूताः ?
सारम्माः—आरम्भसहिताः । पुनः किम्भूताः ? सपरिमहाः—परिमहोऽपि सहिताः, पुनः
किम्भूताः ? सविषयाः विषयः पञ्चप्रकारस्तेन सहिताः । पुनः सेर्ष्याः, सहर्ष्याया
वर्षत इति सेर्ष्याः । पुनः किम्भूताः ? सदा—निरन्तरं सकाङ्क्षाः, सहकाङ्क्षा-द्रव्यादि
वाञ्छया वर्षते ये ते सकाङ्क्षाः । पुनः साधुष्वाङ्घ्रिन—साधुष्वाङ्घ्रिणोऽपि तटाः—लम्पटा इव,
दुराचारदर्शनेन तेषां निन्दनम् ॥ २४ ॥

इत्याधुद्वतसोपहासकचसः स्युः प्रेक्ष्य लोकाः रिपति,
भ्रुत्वाऽप्येऽमिभ्रुत्वा अपि भ्रुतपचाद् वैशुष्ममातम्बते ।
मिष्योक्त्या मुह्योऽपि विभ्रति मनः सन्देहदोलाचलं
येषां ते ननु सर्षयाभिनपयप्रत्यर्षिमोऽमी ततः ॥ २५ ॥

व्याख्या—इत्या० ॥ लोकाः—परतीर्थिकादयः स्थिति—हीनाचारिसामाचारी
प्रेक्ष्य—विशोक्य इत्याधुद्वतसोपहासकचसः, इत्यादिपूर्वोक्तविटादिप्रकारेण उद्वृत्तानि-
उत्कृतानि सोपहासानि—हास्यसहितानि वचांसि येषां ते, एवंविधाः स्युः—भवेयुः, हास्य
दुर्बन्तीत्यर्थः । जन्ये केषुन तपामाचारं भ्रुत्वा अभिभ्रुत्वा—सद्गुणा बाऽपि भ्रुतपचाद्-
सिद्धान्तमार्गात् वैशुष्म्य-पराङ्मुखत्वम् आतन्वते—मज्जते । येषां हीनाचारिणां मिष्यो
क्त्या—मिष्यामापयेन अहो ! अमी जन्यथादिनोऽन्यथाकारिणः, इतिरूपेण मुह्योऽपि-
सम्पद्योऽपि पुरुषाः मनःसन्देहदोलाचलं विभ्रति—पारयन्ति, सन्देह एव दोला तथा
चलम्, 'इदं सत्यमिदं वा सत्यं'—मिति सन्देहास्यदे मनः स्यात्, ननु—निश्चितं तेऽमी-
वैत्यवासिनः ततः—सस्मात्सर्वथा भिनमतप्रत्यर्षिनः—भिनमतवैरिणः ॥ २५ ॥

सर्वैस्फटकालकृतपटलैः सर्वैरपुण्योच्चैः,
 सर्वभ्यालकुलैः समस्तविपुराधि-भ्याधि-दुष्टमहैः ।
 मूत्र क्रूरमकारि मानसममु दुर्भागैमासेदुर्गा,
 दौरास्म्येन निवृत्तुणां जिनपत्र बाधैश्चेत्सुपुणाम् अतः ॥ २६ ॥

व्याख्या-सर्वैः ॥ अह-प्रसिद्धं वैश्यवासिभिहित दुर्गमिषु आसेदुर्गा-सेव्य
 मानानां मानसं-चित नून-निमित्त क्रूरम् अकारि-कृतम् । कैः क्रूरं कृतं ? तत्राह-
 सर्वैस्फटकालकृतपटलैः-असुप्रसद्योपातिविषसमूहैः, सर्वैः-समस्तैः अपुण्योच्चैः-
 पापराशिभिः । पुनः सर्वभ्यालकुलैः-समस्ताशीविषसमूहैः । पुनः समस्तविपुराधि
 भ्याधिदुष्टमहैः, सर्वं विपुरं-कृतम्, आधिः-मानसी पीडा, भ्याधिः-रोमः दुष्टग्रहास्तैः ।
 एतैः पुद्गलैर्महादुष्टं तेषां मनः कृतम् । कथंभूतानां तेषां ? दौरास्म्येन-दुष्टात्म्यत्वेन
 जिनपत्र-जिनमार्गं निवृत्तुणाम्-उच्छेत्तुकामानाम् । पुनःकिंभूतानां ? वाधा-बाध्या
 'एष पः स मार्गः' इत्पूर्वा-कथयितृणां दुर्गममपि सुमार्गतया प्ररूपकाणामिति ॥
 'अतः' इति निष्पदम्-अस्मात्कारणात् ॥ २६ ॥

तत्र कारणमाह-

दुर्मेवस्फुरदुमकुम्भहतमःस्तोमास्तथी वधुर्वा,
 सिद्धात्प्रद्विषतां मिरस्वरमहामोहात्प्रहमानिनाम् ।
 नद्यानां स्वयमम्भनाक्षमकृते बशोपमानां सदा,
 मिथ्याचारवतां वचांसि कुरुते कर्मैः सकर्मैः कथम् ॥ २७ ॥

व्याख्या-दुर्मेव० ॥ मिथ्याचारवतां मिथ्या-विपरीत आचारो येषां ते
 मिथ्याचारवतस्तेषां हीनाचारिणां वचांसि-वाक्यानि सकर्मो-विद्वान् कर्मैः कथं केन
 प्रकरेण कुरुते अपिह हीनाचारि कर्मोपदेशवाक्यमपि न भोतव्यं कथंभूतानां दुर्मेव०
 दुर्मेवो-दुष्कृतेः स्फुरन्-वीर्य सप्र-उत्कटो पः कुत्रहः-कदाग्रहः सएव समस्तमोक्षकार-
 पटल तेन अस्त आच्छादितं पीचमु-ज्ञानलोचन येषां ते । पुनः कथंभूतानां सिद्धांत
 द्विषतां-सिद्धांतवैरिणां पुनः कथं भूतानां निरंतरमहामोहान्-निरंतरमहामोहनीय-
 कर्मणः सकाशात् अहमानिनां-अभिमानवतां पुनः किं स्वयमात्मनानदार्ता-अहानां
 पुनः कथंभूतानां सदा अन्य नाशनकृतेऽन्यप्रसङ्गगाय बशोपमानां-कृतोपमानां स्वयं
 नदोऽन्याभावायति इति अतएव तेषां वधो न भोतव्यमिति ॥ २७ ॥

यत्किञ्चिद्विषयं यदप्यनुचितं यद्व्योक्तोक्तोचरो-

चीर्णं यद्भवहेतुरेव भवितां यच्छास्त्रभाषाकरम् ।

तत्तदर्थं इति जुबन्ति कुभियो मूढास्तदर्हन्मत,-

भ्रान्त्या अस्मि च हा ! दुरन्तदक्षमाधर्षस्य विस्फुर्जितम् ॥ २८ ॥

व्याख्या—यत्किञ्चि० ॥ कुभियोः—कुपण्डितास्तत्तत् पस्तुधर्मरूपतया भुवति,
 तर्क ! यत् किं तत्राह—यं किञ्चित् विषयं अलीक भेगिकराश्रजोहरणवदनादि पदपि
 अनुचितं अयोग्य विप्राद्युपेक्षेण यात्राकरणादि अथवा भिनमदिरे लकुडकीठादिअयोग्यं,
 यत् लोकोक्तोचरोचीर्णं—लोकोक्तोचरमार्गत उचीर्णं पात्र द्रव्यगृहे मिथ्याप्रहणादि
 रजस्वलापूजा, हीनजातिभ्यः परमेष्ठिमन्त्रपाठन दीक्षण जैनैन्द्रप्रतिमाकारण च, तथा यद्
 भवितां—मभ्यानां भवहेतुः—संसारहेतुः । एवं निश्चयेन भिनमन्दिरे अलक्ष्मीहादि पत्
 शास्त्रस्य भाषाकरं—सिद्धान्तविरुद्धम् आभाकर्ममोक्षनादि । अथ भावजाधिक्ये पर्युप
 भाषा अक्षीवितमेऽङ्घ्रि विधानम्, इत्यादि धर्मतया प्ररूपयन्ति मूढाः—मूर्खास्तद् अर्ह
 न्मतभ्रान्त्या—मगब मतभ्रमेण लान्ति—स्वीकृषन्ति श्लुक्तिशकले रजतवत् । ' हा ' इति
 खेदे दुरन्तदक्षमाधर्षस्य—दुष्टासंयतपूजालक्ष्यस्य विस्फुर्जितं—विलसित पश्यतेति ॥२८॥

कथं नष्टविज्ञां नृणां यदृष्टां ज्ञानम्बवैदेशिक ,

कान्तारे प्रदिशत्यमीप्सितपुराभ्वान किञ्चोक्तन्धरः ।

एतत्कष्टतरं तु सोऽपि मुह्यतः सम्मार्गगारवद्विद,-

एतद्व्यक्ताननुवर्तिनो हसति यस्मान्ममज्ञानि च ॥ २९ ॥

व्याख्या—कष्टं ॥ यस्मात्कारणात् किञ्चेति सत्येन नृणां—मनुष्याणां ज्ञास्य
 न्ववैदेशिका, ज्ञास्या—अमना अचः—नेत्रविकल , स चासौ वैदेशिकः—विदिशोत्पन्नः ।
 एवम्भूतः कश्चित् कान्तारे—अट्टक्याम् अमीप्सितपुराभ्वानम्, अमीप्सितस्य—इष्टस्य
 पुरस्य अश्वान—मार्गं प्रदिशति दर्शयति तत्कष्टम् । कथम्भूतानां नृणां ? नष्टविज्ञां—
 दिग्भ्रान्तानाम् । पुनः कथम्भूताम् ? अदृशां—दृष्टविकलानामन्धा—नाम् कथम्भूतो
 ज्ञास्य न्ववैदेशिका ! उक्तन्धरः—ऊष्णीकृतप्रीवः, यो मार्गं दर्शयति स प्रीवामूर्च्छी
 करोति । तु—पुनः एतत् कष्टतरम्—अतिशयन कष्ट, तत्राह—सोऽपि ज्ञास्य च वैदेशिका
 पत्—यस्मात् मुह्यतः—सुनेत्रान् पुरुषान् हसति तत्कष्टतरम् । कथम्भूतान् मुह्यतः ?
 सम्मार्गगान्—श्रीमनमार्गगमनशीलान् । पुनः कथम्भूतान् ? तद्विदः—श्रीमनमार्गगमन
 ज्ञानं पुनः कथम्भूतान् ? तदाकथाननुवर्तिना, तदाकथ—ज्ञास्य न्ववैदेशिके अनुवर्तिनाः—

न प्रवर्षकास्तान् । कथं हसति ? तत्राह—सावङ्ग-साहङ्कारम् अहानिष-मूर्खानिष,
यथा भङ्गा हसन्ति तथा सोऽपि हसति-अहो ! मद्रापयेन गच्छति । एतत्तु कष्टतरं
पचस्य मार्गदर्शनं तत्तु कष्टम् ॥ २९ ॥

सैषा हुण्डावसर्पिण्वनुसमवहसद्भ्यमावानुमावा,—
त्रिभ्रमोममहोऽयं सखनकामितवर्षस्थितिर्भस्मराधिः ।
अस्व्यं चाश्वयमेतन्नमवहसये तस्मै हुण्डमा चे,—
स्वेषु दुष्टेषु पुष्टेष्वनुकूलमधुना दुर्लभो जैनमार्गः ॥ ३० ॥

कथाकथा—सैषा० ॥ सा एषा-प्रत्यक्षा हुण्डावसर्पिणी-हुण्डसस्यानेन सहिता-
वसर्पिणी-एतस्कालः । कथम्भूता ? अनुसमवहसद्भ्यमावानुमावा, अनुसमवर्ष-प्रति
समवर्षं हसन्तः-हीयमानाः मध्याः-प्रधानाः, भावाः-पदार्थास्तेषामनुमावाः-प्रभाषो
यस्यां सा-अनुसमवहसद्भ्यमावानुमावा । च-पुनः त्रिभ्रः-त्रिभ्रचमोऽपि मस्मराधि
रुपग्रहः-उत्कटग्रहः । कथम्भूता ? एकराशौ ख-ख नखमितवर्षस्थितिः, खं खं-शून्यं
शून्यं नखाः किञ्चित्स्वमित (२०००) वर्षस्थितिः-अहानां वक्रगत्या द्विसहस्रवर्ष
स्थितिः । च-पुनः एतत्-प्रत्यक्षम् अन्वयमाश्वयम्-असंयतपूर्वाश्रयणं तस्मै-पूर्वोक्त
त्रिभैरितुष्या, हुण्डमाकालमेदः, निनमवहसये-जिनमवहानिकरभाय, इत्येवं चतुर्द्व
दुष्टेषु-छद्मेषु अनुकूलं-निरन्तरं पुष्टेषु सत्सु अधुना जैनमार्गो दुर्लभः । एकस्यापि
वैरिणः पोषे सावुहर्दिर्न कथं चतुःछद्मेषुपोषे जैनमार्गं हृदिः ? ॥ ३० ॥

अथ गुणितेषुषीद्वारं दर्शयति—

सम्बन्धमार्गेषुषः प्रशान्तवपुषः प्रीतोहसचक्षुषः,
आमप्यर्क्षिषुषेषुषः स्मयषुषः कन्वैरुषप्लुषः ।
सिद्धान्ताश्रमि तस्युषः क्षमयुषःसत्सूत्रतां जगुषः,
सरसाभूत् चितुषः अज्ञाः छतुषः क्षाम्बन्धि नोचुषः ॥ ३१ ॥

कथाकथा—सम्यग् ॥ खठा-दुर्मेनाः चैत्यवासिनः सत्सापूर्-क्षोमनानन
गारान् न क्षाम्यन्ति । कथम्भूतान् ? सम्यग्मार्गेषुषः-सुदुर्गमार्गेषुषः । पुनः किं
विद्विष्टान् ? प्रशान्तवपुषः-प्रशान्तस्वरूपशरीरान् । पुनः कथम्भूतान् ? प्रीते उल्लसती
चक्षुषी येषां च चान् । पुनः किम्भूतान् ? आमप्यर्क्षिषरित्रसमुद्दिष्टेषुषः-प्राप्तुवन्तः ।
पुनः किम्भूतान् ? स्मयषुषः, स्मयम्-अहङ्कारं सुष्यन्तीति अहङ्कारतिरस्कारिणः पुनः

किम्भूतान् ? कन्दर्पकण्ठप्लवः—कन्दर्प एव कर्षं—क्षुण्णस्य त प्लवन्ति—दहन्ति ये त ।
 पुनः किम्भूतान् ? सिद्धान्ताम्बनि—सिद्धान्तमार्गे तस्युपः—स्थितवन्तः । अमयुपः—
 उष्यमयुक्तान् । पुनः किम्भूतान् ? सत्पूज्यतां—विवक्तिपूज्यत्वं जगत्पुः—प्राप्तान् । पुनः
 विदुषः—दद्यान् । अथ कीदृशाः स्वताः ? कृतदुपः—विहितशोषाः । पुनः किम्भूताः ?
 उष्यदुपः, उष्यन्—प्रकटीमबन् रूप—रोषो येषां ते, एवम्भूता, गुणिषु श्रेय बहन्त्येव ॥३१॥

देवीयस्युद्धोपिणः अतमहारोपानदेवीपति,

सर्वशीयति मूर्त्तिसुष्यनिबह तत्त्वज्ञमहीयति ।

उन्मार्गीयति चैनमार्गमपथ सम्यग्पथीयरमहो ?,

मिथ्यात्वग्रहितो जनः स्वमगुणामण्य कृतार्थीयति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—देवी० ॥ 'महो ?' इत्याक्षर्ये मिथ्यात्वग्रहितो जनः—मिथ्यात्वेन
 गर्गीभूतो लोकाः, एष कुरुत, तत्राह—उरुदोपिणः—प्रबलदोषयुक्तान् देवीपति—देवतया
 मन्यते । अथ अतमहारोपान्, अताः—(वि)नाशिता महादोषा येस्त तान् वीतरागान्
 अमत्त्वेन अदवीयति—देवतया नाङ्गीकरोति, पुनः मूर्त्तिसुष्यनिबह—मूर्त्तप्रधानसमूह
 सर्वशीयति—सर्वद्वेषतया मन्यते, तत्त्वज्ञ—तत्त्वज्ञातारम् अहीयति—अज्ञतया मन्यते ।
 चैनमार्गीय—मार्गीयति । पुनः अपथ—कुमार्गे सम्यक् पथयति—सुमार्गतया मन्यते ।
 अगुणैरग्रण्यं—निर्गणप्राधान्यं स्वम्—आरमानं कृतार्थीयति—गुणवचया मन्यते ॥ ३२ ॥

सङ्घाकृतधैत्यकृतपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत,—

स्तम्भुत्राहृष्यास्रवन्धनवतः शक्करम न स्पम्बित्तम् ।

मुक्तये कल्पितवानक्षीकृतपसोऽप्येतत्कमस्थायिनः,

सङ्घाप्रवचस्य अन्तुहरिणप्रातस्य मोक्षः कृतः ? ॥ ३३ ॥

व्याख्या—सङ्घा० ॥ अन्तुहरिणप्रातस्य, अन्तवः—प्राणिनो मध्यास्त एव
 हरिणः—मृगास्तेषां प्रात—समूहस्तस्य—मध्यमनमृगसमूहस्य मोक्षः—मुक्तिः कथमपि तु न ।
 कथम्भूतस्य अन्तुहरिणप्रातस्य ? सङ्घाप्रवचस्य, सङ्घ—हीनाधारिसमूहायः, स एव
 व्याघ्रः—मृगारिस्तद्वचस्य—वक्षीभूतस्य । यथा व्याघ्र—वचस्य हरिणस्य मोक्षः—छुटनं न
 तथा कृमिसङ्घाप्रवचस्य मध्यहरिणस्य मुक्तिगमन न । कथम्भूतस्य अन्तुहरिणप्रातस्य ?
 सङ्घाकृतधैत्यकृतपतितस्य, सङ्घस्य—लिङ्गिसमूहायस्य दानाय कृतानि सङ्घाकृतानि
 यानि चैत्यानि—अिनमवनानि भावकैर्निर्माप्य लिङ्गिम्यो दत्तानि, दय 'त्रा' प्रत्ययः,

तान्येव-चैस्यान्येव कृटः हरिणबन्धनपन्त्राणि तत्र पतितस्यान्यस्य भृगस्य कृटे वसितस्य मोक्षः कष्टेन । पुनः कथम्भूतस्य ? तराम्-अत्यर्थम् अन्तः-मभ्यहृदये ताम्यतः-खेदं कुर्वतः । 'कदाकृटिष्येऽह' -मिति सिद्धमानस्य । पुनः कथम्भूतस्य ? तन्मुद्राद्रुद्धपाशबन्धनवतः, तस्य कृतस्य मुद्रा-मर्यादा 'अस्मभ्येस्य एव समायन्तम्ब'-मिति, सेव इह-निषिद्धो यः पाशस्तस्य बन्धन यस्य स तस्यान्यस्य हरिणस्य दवरिकादिनिर्मितप्रविषिद्धपाशे पतितस्य मोक्षो नेति । पुनः किम्भूतस्य ? सन्वित्तु-बलित्तु न शक्यस्व-न समर्थस्य । पुनः किम्भूतस्य मभ्यघन्तोः ? मुक्तयै-मुक्तयर्थं कल्पितदानशीलतपसोऽपि, कल्पितम्-आचरित स्वबुद्ध्या दान शील तपो येन तस्य, यद्यपि तपाःप्रसूति मुक्तयर्थं करोति तथापि न मोक्षः । पुनः कथम्भूतस्य ? एतत्कर्मस्वायिनः, एतस्य-कृतस्य यः क्रमः-परम्परा तत्र स्थायिनः । हरिणपक्षे एषस्य मृगस्य प्रहारार्थं सञ्चितः क्रमः-चरणस्तत्र स्थायिनः पादपतितस्येत्यर्थः ॥ ३३ ॥ ॥ इति द्वारदशक व्याख्यातम् ॥

पुनरप्याह—

इत्थं मिथ्यापद्यकथनया तप्ययाऽपीह कश्चिन्-
 मेहं प्रासीदनुचितमत्रो मा कुप्यतेऽपि वस्मात् ।
 जैनभ्रान्त्या कुपयपतितान् प्रेक्ष्य नृस्तत्रमोहा,-
 पोहायेहं किमपि कृपया कल्पितं कल्पितं च ॥ ३४ ॥

क्याक्या-इत्य० ॥ इत्यम्-अमुना प्रकारेण तप्ययाऽपि-सत्ययाऽपि मिथ्या पद्यकथनया, मिथ्यापद्यस्य-हीनाचारिमार्गस्य कथना-प्रकृतना तथा, इह प्रवचने कश्चिन्नान्तुर्भिनशासनस्यः मा इदं प्रासीत्, यदिहं परदोषोद्ध्याटनम् अनुचितम्-अयोग्यम् । अथो-अथवा कोऽपि-कश्चिदपि मा कुप्यत्-मा कुप्यते यत् 'किमनेन रागद्वेषाक्षयेने'-ति क्षेप-द्वेष मा करोतु पस्मात्कारणात् जैनभ्रान्त्या-जैनमार्गभ्रमेण कुपयपति तान् कुपये हीनाचारीप्ररूपिते पठीतान् नृन्-नरान् प्रेक्ष्य अथ तत्प्रमोहापोहाय, तथा-अन्तानां प्रमोहः-अज्ञान तस्याऽपोहः-निराकरण तस्मै, तन्मोहनिराकरणाय इदं-प्रत्यक्ष किमपि कियमात्र कृपया-दयया 'अहो ! अमी बराकाः कथं मविष्यन्ती ?' ति कृपया कल्पित-प्रोक्तं च-पुनर्बलिपत-प्रचरणनया प्रारब्धं न तु रागद्वेषाम्यामिति ॥ ३४ ॥

तत्र कारणमाह—

प्रोक्षतेऽमन्तकात्कृष्टिमलनिष्ठये नाम नेपथ्यतोऽहं,
 मार्गभ्रान्ति दधानेऽद्य च तद्मिमरे तत्त्वतोऽस्मिन् दुरभ्ये ।

कारुण्याद् य कुबोध नृपु निरसिसिपुर्दोषसङ्ख्यां विवक्षे,
इमोऽम्मोघेः प्रमित्सेत् स सकलगतोऽह्वन वा विधित्सेत् ॥ ३५ ॥

व्याख्या-प्रोद्भू० ॥ यः पुरुषः अस्मिन् दुरध्वे-दुष्टमार्गे हीनाचारिप्ररूपिते
दोषसङ्ख्याम्-इयत्तया दोषपरिमाणं विवक्षेत्-बहुमिच्छेत् स पुरुषः अम्मोघेः-समुद्रस्य
अम्मः-अलं प्रमित्सेत्-प्रमातुमिच्छेत् वा-अथवा सकलगतोऽह्वनं-समस्ताकाशस्य
पशुभ्यामुल्लङ्घनं विधित्सेत्-कर्तुमिच्छेत् । यथा समुद्रमलमानम् आकाशमलङ्घनं कर्तुम्
शक्यं तथा हीनाचारिदोषसङ्ख्यां बहुं न पार्येत इति । कथम्भूतः ? यः कारुण्यात्-
दयातो नृपु-नरेषु कुबोध-कृतस्त्रज्ञान निरसिसिपुः-मत्कुमिच्छुः । कथम्भूते दुरध्वे ?
अनन्तकालात्-अनन्तकालेन प्रोद्भूते-संघाते । पुनः किम्भूते ? कलिमलनिलयं-पाप
स्थाने । पुनः किम्भूते ? नामनपप्यतः, नाम्ना नेपथ्यं-वेपथ्स्तस्मात् नाममात्रशेष
पारजठोरर्हन्मार्गान्ति दधाने 'अहो ! अमी शेषमात्रधारका अपि साधवः' इति
भ्रान्ति विधायके । अथ च-पुनरपि तत्त्वतः-परमार्थतः-उद्गमिमरे, तस्य-भ्रान्तिमत्त्वस्य
अमिमरे-घातके चौरप्राये, यथा चौराः प्रच्छन्नशूच्या शेषपरावर्त्तेन राजादिक भ्रष्टि
तथा एतेऽपि लिङ्गमात्रधारकत्वेनार्हन्मार्गपातका एवेति ॥ ३५ ॥

न साध्यान्ताया न बहुश-कुशीलोषितयति,
क्रियामुक्तं पुक्तं न मद्-ममता-मीबनमयेः ।
न संक्षेपावेदा न कश्चिमिधेसा न कपट,-
मिया ये तेऽद्यापि स्युरिह पठयः सूत्ररतयः ॥ ३६ ॥

व्याख्या-न सा० ॥ त अद्यापि-साम्प्रतमपि इह-अिनदासने पठयः-साधवः
स्युः य एवविधाः । किम्भूताः ? न साध्यान्तायाः, साधयः-सपायः आधाकर्त-
मोचनादिरूपम् आम्नायः-परम्परा येषां ते तथा चैर्यथासाध्याम्नायवन्ती य नेत्ययः ।
पुनः किम्भूताः ? बहुश-कुशीलोषितयति-क्रियामुक्ता न, बहुश-सपलम् अतिघारपट्टेन
चारित्र यथा त बहुशः, इतिवर्तं शील-भरत्य यथा त कुशीलाः, तथासुचिता-योग्या या
यतिक्रिया-साधुसामाचारी तथा मुक्ता-भियुक्ता न ये तावद् बहुशकुशीलक्रियाबन्वस्ते
शुना सुसाधव एव, " बहुशकुशीले हि यद्वपरितित्य " इतिवचनात् । अत्र
पञ्च निप्रयाः-बहुश-कुशील-पुसाक-निर्ग-य-स्नातकमेदात् । बहुशः द्विविधा
उपकरण-वेदमेदात् । ये येषु प्रत्यासत्तिमन्तरणापि कदापिद् बहुशदिकं धारति सस्या
र्षद्वकादि विप्रुषन्ति, कदापित्परिदधते, पात्रदण्डकाद्यपि पूष्टैसादिप्रयत्नोत्पादित

तैमस्क च धारयन्ति, उपकरणमप्यतिरिक्त चार्थयन्ते ते उपकरणबहुधाः । ये कारभरन
नस्तादीन् कदापिभिनिमित्त भूयन्ति ते देहबहुधाः । इमे द्विविधा अपि क्षिप्पादि
परिवारादिकां विभूतिं तथापाण्डित्यादिप्रमथ च पद्मः प्रार्थयन्ते, प्रमोदन्ते छेदाहंभाति
चारिर्बहुभिः द्रवलिता अपि कर्मक्षयार्थमुद्यता इत्यादि । दुष्शीलो द्विविधः आसेवना
कृपायमेदात्, ये ज्ञानदर्शनचारित्र्यतर्पांसि किञ्चिद्बुद्धीयन्ति ते आसेवनादुष्शीलाः, ये
क्रोधादिभिः कृपायै-ज्ञानादिगुणान् विराभयन्ति ते कृपायदुष्शीलाः । मूलोत्तरगुणविराभकाम
पञ्चनिर्ग्रयमन्थे केऽपि । पञ्चानां विस्तरतः स्वरूप भी भगवतीसूत्रादिभ्यश्च ज्ञेयम् ।
ननु ये एषं क्षिपिलक्रियायुक्ताः कर्तितकेश्या उपकरणभारकाः मूलोत्तरगुणविराभकास्तै
निर्ग्रन्थाः कथं तेषां स्वरूपं केन प्रकारेण ? इति चेदुच्यते-एतेषां कर्षण्यता तावत् प्रवाह
मार्गेण नास्ति किन्तु कदाचिन्मइति कारणे जाते भावनादिका क्रिया, इति, मूलगुण
विराभन च मनश्च विराभनादिप्रकारेणेति रहस्य सदा तत्कर्षण्यता नास्तीति ॥ पुनः
किम्भूताः ? मदममताञ्जीवनमयैः, मदो-गर्भः, ममता-प्रतिबन्धः, आञ्जीवनमय
मिषाद्याञ्जीविकामयं, तैर्मदममताञ्जीवनमयैः न युक्ताः-न स्पृष्टाः । पुनः किम्भूताः ? न
संश्लेषस्य-रौद्राभ्यवसायस्य आवेशः-उत्कर्षो येषां ते न संश्लेषावेशः । पुनर्न कद्
मिनिवेशः, कद्-कुत्सितः अमिनिवेशः-कदाग्रहो येषां ते, तथा कपटप्रियाः-माया
बल्लमा न पुनः किम्भूताः ? छत्ररतयः छत्रे रतिर्येषां ते छत्ररतयः-सिद्धान्तरुचयः ॥३६॥

संविद्याः सोपदेशाः भुतनिकपविदः क्षेत्र कालाद्यपेक्षया,-

ऽनुष्ठानाः शुद्धमार्गप्रकटनपटव प्रास्तमिष्याप्रवादाः ।

बन्धाः सत्साधनोऽस्मिन्नियम-शम-बमौचित्य-गाम्भीर्य-धैर्य,-

स्वैर्योदायोर्धैर्याञ्जनय-लय-दया-दक्ष्य-दाक्षिण्यपुण्याः ॥ ३७ ॥

व्याख्या-संविद्याः ० ॥ अस्मिन्-अज्ञानशासने एवम्भूताः सत्साधनः-धोमन-
माधनो बन्धाः । किम्भूताः ? संविद्या-मोघामिलायुक्ताः । पुनः किम्भूताः ? सोप
देशाः, सह उपदेशेन-धर्मोपदेशेन बर्धन्ते ये ते सोपदेशाः । पुनः किम्भूताः ? भुतनि
कपविदः-भुतमव-प्राप्तमेव निकपः-कपपट्टस्तद्विदः-भागमरहस्यनिपुणाः । पुनः
किम्भूताः ? क्षेत्रकालाद्यपेक्षानुष्ठानाः, क्षेत्र-कालाद्यपेक्ष-क्षत्रकालाद्यनुष्ठारि, आदि
उपदान्छरीरबलादिप्रदः, अनुष्ठान-कर्षण्यता येषां तं द्रव्यक्षत्रकालमाधानपक्ष्य क्रिया
कर्त्तार इति । पुनः किम्भूताः ? शुद्धमार्गप्रकटनपटवः, शुद्धमार्गस्य प्रकटने पटवः-
साधनानाः । पुनः किम्भूताः ? प्रास्तः-दूरीकृतः मिष्याप्रवादो यैस्ते प्रास्तमिष्या

प्रधादाः । पुनः किम्भूताः ! नियम, नियम-अभिग्रहः, क्षमः-उपक्षमः, दमः-
इन्द्रियक्षयः, औचित्य-योग्यता, गाम्भीर्यम्-अलक्ष्यविकारत्व, धैर्य-धीरत्व, स्वैर्य-
विसृष्टकारित्वम्, औदार्यम्-उदारत्वम् आर्यवर्षा-सुरपुरुषप्रवृत्तिः, विनयाः-अभ्यु-
त्थानादिः, नयः-न्यायः, दया-कृपा, दक्ष्य-धर्मक्रियाऽनालस्य, दाक्षिण्यं-सरलता,
एभिर्गुणैः पुण्याः-ववित्राः ॥ ३७ ॥

स्वनामगमितकाव्यमाह—

विभ्रात्रिष्युमगर्भमस्मरममासाद्यं सुतोच्छ्राने,
सञ्ज्ञानधुमपि जिनं वरवपुः-भीषत्रिकामेश्वरम् ।
वन्द्ये वण्यमनेकषाऽसुरनरैः, क्षत्रेभ्य येनच्छिद्यं,
दम्भारिं विदुषां सदा सुवचसाऽनेकान्तरङ्गप्रदम् ॥ ३८ ॥

क्याक्या-विभ्रा० ॥ जिन-तीर्थकरं वन्दे । किम्भूत जिन ? विभ्रात्रिष्युम्-
अतिशयैः श्लोभापमानम् । पुनः अगर्वम्-अहङ्काररहितम् । पुनः अस्मरं-कन्दर्परहितम् ।
पुनः किम्भूत ! सुतोच्छ्राने-सिद्धान्ताऽतिक्रमे अनाघादम्, भाशां-मनोरथ ददातीति
आघादः, न आघादोऽनाघादस्तम् । पुनः किम्भूत ! सञ्ज्ञानधुमपि, सञ्ज्ञानेन प्रधान
केवलज्ञानेन धुमपि-सूर्यम् । पुनः किम्भूत ! वरा-प्रधाना वपुःभीः-खरीरकान्तिः सैव
चन्द्रिका-न्योत्सना तथा मेश्वरं-नक्षत्रनाथ चन्द्रम् । असुरनरैः-दानवमानवैः क्षत्रेभ्य-
इन्द्रेण अनेकषा-अनेकप्रकारेण वण्यं-वर्णनीयम् । पुनः एनच्छिद्यम्, एनः-पार्यं
छिनत्तीति पापच्छेदकमित्यर्थः । पुनः दम्भारिं, दम्भस्य-कपटस्य अरिः-वैरी दम्भा-
रिस्तम् । पुनः विदुषां-पश्चितानां सदा-निरन्तरं सुवचसा-सुवाक्येन अनेकान्तरङ्ग-
प्रदम्, अनेकान्त-स्पादादस्तस्य रङ्गस्त प्रददातीति अनेकान्तरङ्गप्रदस्तम् । वचनेन
मगवान् स्पादादस्तं प्ररूपयन्तीति । चक्रमाघसमं, यथा माघकाव्ये चक्रमन्वतया वर्धते
तथाऽत्र चक्रमाघतुस्यं चक्रवर्धं 'जिमघस्यमेन गणिनेर्दं चक्रे' इति नाम वर्धते ।
चक्रस्यापना मसिदैव ॥ ३८ ॥

जिमपक्षिमहधुगं कालतः साधुवेये,-
विपयिभिरिमभूते भरमकन्तेच्छस्यैः ।
स्ववद्व्यज्जयमानां गृह्णन्ते स्वगच्छे,
स्वितिरियमधुना वैरमपि स्वार्थमिच्छे ॥ ३९ ॥

व्याख्या—जिनपति० ॥ तैः—चैत्यवासिभिः इय स्वमच्छरितिः—स्वमच्छ
 मर्षाया अघुना—साम्प्रतम् अप्रति—विस्तारिता । कस्यै ? स्वार्थसिद्धौ—स्वोदरमरणप्रयो
 वनाप । कथम्भूता ? स्ववद्वद्वद्वनानां, स्ववद्वदा—आत्मवद्वदा ये वद्वदाः—मूर्खाः वनाः—
 लोकास्तेषां शृङ्खला इव 'अस्मान् विमुष्य नान्यत्र गन्तव्यम्' एवं शृङ्खला । क
 सति ? साधुवेषैः—साधुवेषमात्रपारकैस्तेरेव फालतः पञ्चमारकात् जिनपतिमतदुर्मैः
 अमिभूते—परामृते, जिनपतेः—तीर्थंकरस्य मत—घासनं तदेव दुर्मैः—कोट्टविलेखस्तस्मिन् ।
 कथम्भूतैः ? विपयिभिः—विपयसेवकैः । पुनः किम्भूतैः ? मस्मकम्लेच्छसैन्यैः, मस्मकः—
 मस्मग्रह एव म्लेच्छः—तुरष्काधिपतिस्तस्य सैन्याः सैन्यस्वरूपास्ते, यथा तुरष्काधिपतेः
 सैन्यं भवति तथा मस्मकस्यैते सैन्या इति ॥ ३९ ॥

सम्प्रत्यप्रतिमे कुसङ्घवपुषि प्रोञ्जमिमते मस्मक-
 म्लेच्छातुच्छबले दुरन्तदक्षमाधर्ये च विस्फूर्जिते ।
 प्रौढि जग्मुषि मोहराजकटके लोकेत्तशाकापरे-
 रेक्षीभूय सदागमस्य कथयाऽपीत्वं कदर्प्यामहे ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीसहस्रपट्टकसूत्रं सम्पूर्णम् ॥

व्याख्या—सम्प्र० ॥ लोकैर्षयम् इत्यम्—अघुना प्रकारेण कदर्प्यामहे । कथा ?
 सदागमस्य कथयाऽपि, सन्—प्रधानः आगमः—सिद्धान्तस्तस्य सदागमस्य कथयाऽपि—
 कथनेनापि । यदा शुद्धमार्गस्य कथाऽपि क्रियते तदा लोकाः कदर्थनां कुर्वन्तीति ।
 क सति ? सम्प्रति—अघुना मस्मकम्लेच्छातुच्छबले प्रोञ्जमिमते, मस्मकः—मस्मग्रहः,
 स एव म्लेच्छः—तुरष्काधिपतिस्तस्य अतुच्छं—प्रचुरं बलं तस्मिन् प्रोञ्जमिमते—प्रोहीते
 सति । कथम्भूते बले ? अप्रतिमे—महातेजस्विनि, पुनः कथम्भूते ? कुसङ्घः—वपुषि,
 कुसङ्घः—हीनाचारिसङ्घ एव वपुः—शरीरं यस्य स तस्मिन् प्रत्यक्षतो दृश्यमानकुसङ्घशरीरे
 च—पुनः दुरन्तदक्षमाधर्ये—दुष्टासंयतपञ्चालधणदक्षमाधर्ये विस्फूर्जिते—प्रकटीभूते सति ।
 कथिवचसा दक्षमाधर्यस्य पञ्चमारके प्रादुर्भावः । पुनः मोहराजकटके—मोहनीयकर्मरूप
 राजसैन्ये प्रौढि—विस्तारस्व जग्मुषि—प्राप्तवति । मस्मकग्रहचैत्यभास्यादयः सर्वेऽपि मोह
 नीयसैन्यरूपा एव । किं कृत्वा कदर्प्यामहे ? एक्षीभूय—एकपद्यतां कृत्वा । कथम्भूते-
 लोके ? तदाशापरे, तस्य—मोहराजस्य आशा, तत्र पराः—साधधानास्तैः—मोहाशा
 पद्यवर्षिणि । संसाररूपनगरे मोहराजा दुस्सहस्वस्य सै—य—मस्मग्रहो महासामन्तो
 दक्षमाधर्ये द्वितीयः सामन्त इति रहस्यमिति काव्यार्थः ॥ ४० ॥

अन्यकारप्रदास्तिः

श्रीमत्क्षरतरगच्छे श्रीमज्जिनमद्रसूरिक्षाळावाम् ।
 श्रीपद्ममेकमुगुह—ध्वंवाहायैत्ययमुदं दुरि ॥ १ ॥
 तच्छिष्यो बाहूपतिरिह, श्रीमम्भतिवर्द्धो गुहर्त्तपात् ।
 श्रीमेदतिच्छकनामा, तच्छायमकल्पिकः समभूत् ॥ २ ॥
 तच्छिष्यौ प्रवरगुणौ, वपाकच्छसद्रणिभ्रभापुमजिम् ।
 अमरभाजिकममुगुहा, समस्तसिद्धाम्बौरेपः ॥ ३ ॥
 तच्छिष्येषु मुबिहिवा, मुगमेयं साधुकीर्त्तिगणिनाऽपि ।
 एकोनविंशतिमधिक,—योद्धस्यसंबस्त्रे प्रबरे ॥ ४ ॥
 मासमासे लुक्कपक्षे, पञ्चम्यां प्रवरयोगपूर्णायाम् ।
 विद्युधैः प्रपद्यमाना, समस्तमुक्तावाविनी भवतु ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीजिनवह्मभसूरिकृत—सङ्घपहावचूरि सम्पूर्णा ॥



कविचक्रवर्ति श्रीत्रिनयनसुखरिबिरचितः पण्डितलक्ष्मिसेनविदितवा स्फुटाशी
मिथया कृपुहस्तासनाथः ।

सङ्घपट्टकः

इन्धीबरप्रममनिदितकांयिसाति—

धामार्षितं सुरवरैः किञ्च वासनाथैः ॥

श्रीमन्निनेसचरणं सरणाव सद्यः ।

सर्वेजमा नमत किं कृष्वान्य चिन्ताम् ॥ १ ॥

गम्भीरार्थगतैर्छेदस्यदरतेः श्रीसंपपट्टामिच,—

मन्त्रस्यास्य वधामर्षिं प्रकुरुते टीकां स्फुटार्थमिधाम् ।

कन्धीसेनसुधीः सुधीरनिबद्ध प्रीत्यै सिनेसप्रभोः

पादाब्जा—रैनछम्ब सम्मति रति श्रीमाम् हमीरात्मजः ॥ २ ॥

तत्र तावदाद्यस्तोकार्थविवेचनमारम्भते—

वग्निन्वालाबलीह कृपममधनधीर्मातुरस्तोकछोक ॥ १ ॥

व्याख्या—‘वग्नि’रिति—तं देवं—पार्श्वनाथ वयं स्तुमः—प्रणमामः । तं क ? वो
देवः इति अगादेव—उक्तवानिष इति, किं ? प्राज्ञैः—पण्डितैः सद्यः—तद्दुष्कादेव ह्युमार्ग-
स्वल्पं कार्यं—कर्षय्य, सिद्धान्तविदुश्चमत्तनिगाकरणं कर्षय्य—मित्यर्थः । किं कृत्वा ?
स्वस्य आत्मनः विधुरमपि प्रपद्य । अपि सम्भाषने कोऽर्थः ? ह्युमार्गस्वल्पनाद् यदि
आत्मनो विधुरमपि किञ्चिद् भवति तथापि इति । किं कृष्वन् उक्तवान् ? कमठमृदितया
उच्यैः—अतिशयेन दुष्ट प्रकटयन्—प्रकटीं कृष्वन् । कोऽर्थः ? कमठनामसापसस्तावदेकः कश्चि
त्पत्नी पञ्चाभि नाम तपः कृष्वन् पार्श्वनाथेनावलोकित, तस्य सत् तपो भगवता दुष्टं कृत
मित्यर्थः ॥ किं कृत्वा ? अखिललोकस्याग्रे जलस्काष्ठमष्पात्सर्वं सन्दर्ष्य, न केवलं अखिल
लोकस्याग्रे मातुर्वामदेष्पाभागे धामादेवी भगवन्माता, तस्या अपि पुरतः इत्यर्थः किं
विदितं नागं ? “ अग्निन्वालाबलीह ” अग्निद्विस्वाकृष्वलित—अद्वयं च मित्यर्थः कश्चिन्मृतो
यः परमेश्वरः ? ह्युमार्गच्छेदनमुदियुक्तः । पुनः कश्चिन्मृतः ? कारुण्यामृताग्निः—कृपा
पीपसागरः ॥ १ ॥

भीठपदेष्टमजनयोग्य भोतारं निरूपितुमाह—

कस्याणामिनिवेशनानिति गुणग्राहीति मिथ्यापयः.. ॥ २ ॥

व्याख्या—कस्याणामि०—भोतृणां चतुर्दशगुणाः, भोतृशब्दाः सर्वेऽप्यत्र हेत्वर्थाः । अथ श्लोकान्वय —भो भोतः ! मया ग्रन्थकर्त्रा स्वसुन्यसे—कथ्यसे कथमिति ? कस्याणामिनिवेशनानिति, कोऽर्थः शुभरूपाग्रहवान् शोभनस्य रूपस्य भाग्रहो विद्यते अस्वेति स तथा । पुनः कथमिति ? गुणग्राहीति गुणग्राहीतु शीलमस्वेति गुणग्राही । पुनः कथमिति ? मिथ्यापयप्रत्यर्थीति पथा—छन्दः प्ररूपितोत्सृज्यमार्गस्वस्य विरोधी, पुनः कथमिति ? विनीत इति शत्रुस्वभाव इति, अर्थाद् गुणादिषु । पुनः कथमिति अशुभ इति अपूष इति । पुनः कथमिति ? औचित्यकारीति—उचितस्य भाव औचित्य, तद् कर्तुं शीलमस्वेति । पुनः कथमिति ? दाक्षिण्यीति दाक्षिण्ययुक्तः । पुनः कथमिति ? दमीति—भित्तेन्द्रियः, पुनः कथमिति ? नीतिमूढिति—नीति विमर्शीति नीतिमूढ—सदाचारपरायण इत्यर्थः । पुनः कथमिति ? स्वैर्यीति—स्वैर्यगुणयुक्तः स्थिर इत्यर्थः । पुनः कथमिति ? धैर्यीति—धीर इत्यर्थः । पुनः कथमिति ? सद्धर्मधीति—सतां धर्मः सद्धर्म तस्यार्थः, सोऽस्यास्तीति शोभनधर्मगणेषु । पुनः कथमिति ? विवेकवानिति—युक्तायुक्तविचारचतुरः इत्यर्थः । पुनः कथमिति ? सुधीरिति प्राज्ञ इत्यर्थः ॥ २ ॥

इदानीं युगमश्लोकयो—व्याख्यानमारभ्यते—

इह किल कलिकालव्यालवक्रान्तरालः.. ॥ ३ ॥

प्रोत्सर्प्यद् महमरासिमहसलरसमाक्षर्यमाप्राप्यपुन्य.. ॥ ४ ॥

व्याख्या—इह० ॥ प्रो० ॥ “ किलेति ” प्रसिद्धिः इह जगति विपयिभिः स्रक्षन्दनपनिवादिसेषिभिः अमितः—समंतात् । सोय पथा अप्रार्थि—प्रार्थितः—स्रपा पितः । कथमभूतः पथा ? विनोक्तिप्रत्यर्थी—जैनशास्त्रविरोधी, कस्मिन् सति ? प्राणिवर्गो वीरसमूहे जैनन्द्रमार्गे—जिनशासने विरलर्ता—सुच्छर्ता याति सति, कथमभूते प्राणिवर्गे ? कलिकालव्यालवक्रान्तरालस्थितिद्वयि । कलिकाल एव व्यालः—सर्पस्वस्य वक्त्र तस्यान्तराल—मप्य तत्र स्थितिः—स्थान, तद् श्रुयते सेवते यः तस्मिन् । पुनः कथमभूते प्राणिवर्गे ? गततत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारे । गतौ—नष्टौ तत्त्वप्रीतिनीतिप्रचारौ यस्य तस्मिन्, इदानीं प्राणिवर्गे तत्त्वप्रीतिर्नास्ति । नीते प्रचारो व्यवहारश्च नास्तीत्यर्थः ।

पुनः कथम्भूते ? प्रसरदनबोधे—प्रादुर्भवत् सम्यक्सिद्धान्तापरिज्ञानं, कोऽर्थः ? सिद्धांतार्थसम्यग्ज्ञानरहिते । पुनः कथम्भूते ? प्रस्फुरत् कापयोवस्वमितसुमविसर्गे उन्मीलन्तः—प्रकटी भवतः ये कुमार्गाः—कुत्सितमार्गाः ते स्वगितः—तिरस्कृतो रुद्रः—अपवर्गलक्षणायाः सुगतेः सर्गो—निष्पत्तिर्यस्य तस्मिन् । कथम्भूतेः साधुवैः विषयिभिः ? संश्लिष्टद्विष्टमूढप्रसन्नबह्वजनाम्नायरक्तैः । कोऽर्थः ? समानधर्मजनो पतापकारि—मस्सरि—हेयोपादेयविमर्शशून्यप्रकर्षपिष्टुनः दुर्बुद्धिचतुर्विध संघः, तस्मान्नायः—श्लिष्टप्रश्लिष्पादिसंतानः, तत्र रक्तः—प्रीतिमतः, तेः । पुनः कथम्भूतेः ? साधुवैः—सन्नुनिविष्टुचारिभिः कथम्भूते जेनेन्द्रमार्गे ? 'प्रोत्सर्प'दित्यादि प्रोन्वृम्भमाणो यो भस्मराशिनामा भ्रूत्रग्रहः, तस्य सत्त्वा—मित्रम्, असयत्पूआरुयं रिपुविजयपुरःसरं भाक्षैश्वर्यं वर्द्धमान अतस्त्वे तत्त्वप्रतिपद्यमानरूप यद् दक्षमाश्रयं तस्य साम्राज्येन—प्राप्तुर्वैज पुष्पन्—प्रादुर्भवन् मिथ्यात्व, तदेव ध्यात—समिन्न तेन व्याप्ते । अम्योऽपि मार्गो यद्यधकारावृत्तो भवति तदोच्छ्रयसां यात्यथ ॥ ३-४ ॥

इदानीं योग्यस्य भोक्तुः पुरतो घुर्त्तकल्पिते पथि दक्षमिन्द्ररैस्तत्र निरूपितं धर्मप्रतिपादयन् तस्य धर्मस्य कर्मनिर्मूलन सामर्थ्यमसंभाषयन्नाह—

पत्नीरेशिकमोजन क्षिप्तगृहे वासो वसत्यक्षमा ॥ ५ ॥

व्याख्या—“ यत्रौ० ” पस्मि मार्गे औदेषिकमोजनं, कोऽर्थः ? यतीन् मनसि कृत्वा निष्पादितं, जिनगृहे वासः—अर्हवृभवने सर्वदा निवासः, वसत्यक्षमा—गृहस्वगृहे वासं प्रति मात्सर्यम्, अर्थं गृहस्यैत्यसदनेषु स्वीकारः—द्रव्यभावकजिनगृहेषु व्यङ्गीकारः, अप्रेक्षिताघासनं—स्वच्छुषा अदृष्ट—मासनम्, सावधाचरितादरः—सपापैर्पदाचरितं, तस्यादरः, भुतपथावस्था—सिद्धान्तमार्गस्याऽनादरः, गुणिल्लेखीः—पतिषु द्वेषपुद्धिः, इति दक्षद्वाराणि । एतैर्दक्षद्वारैः प्ररूपितो धर्मः । अत्र—असाधुकल्पिते पथि कर्महरभेदु मवेत्—कर्मक्षयकारी मवेत् तदा अन्धौ—समुद्रे मेरुस्तरत् । पदा मेरुः समुद्रे तरति तदा एतस्माद् धर्मात् मोक्षो मवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

साम्प्रतमेतेषामेव दक्षद्वाराणां यथाक्रमं प्रत्याख्याने विकीर्णः प्रथम धानजीरोपमर्दोपदृष्टया औदेषिकमोजनद्वारं निषेदुमाह—

पदकावात् वपमर्षं मिर्षयस्यपीनायाव यत् साधितं.....॥ ६ ॥

व्याख्या—पद्कायानुपम० । नामेति संभाषनायास्, इह—प्रबन्धने सद्युषो-
 वयास्तुः कः तद् मोक्षन मोक्षुमिच्छति ? अपितु न कोऽपि—इत्यर्थः । किं कुर्वन् ?
 सहादिनिमित्तमेतन्निष्पन्नमिति ज्ञानम् । किं तद्मोक्षनं यत् पद्कायान्—यद्विषजीवनि
 कायान् उपमर्श—इत्या निर्दय यथा स्यात्, एवम् अपीन्—यतीन् आदाय—मनसि कृत्वा
 यत् साधित निष्पादित यद् मोक्षनम् अस्तु—बारं बारं श्लाघेपु प्रतिषिष्यते—निवार्यते
 निक्षीषादिग्रन्थेषु यस्य नियेषो वर्तते, तद् मोक्षनं निश्चिन्तताद्यापि निष्करुणताकारकम् ।
 पुनः यद् मोक्षन पण्डिताः गोमांसाद्युपमम् माहुः—गोमांसादिसदृश कर्षयति मूलादि ।
 यद् मोक्षन शूत्र्या यतिरभोयाति—नरक गच्छति तद् मोक्षनं प्राज्ञः कोऽपि न मोक्षु-
 मिच्छति—इत्यर्थः ॥ ६ ॥

प्रथमं तावत् मोक्षनद्वारं निषेष्य क्षिनुरहनिवासं निषेधयितुमाह—

गायद् गन्धर्वं नृत्नत् पणरमभिरणद् वेणुगुञ्जम्बरम् ॥ ७ ॥

व्याख्या—“गायद् गन्धर्वं” सतु इति निषेधे मर्हन्तमतज्ञाः—विनशात्
 निपुणाः सन्तः क्षिनुरे न वसन्ति—न सततमवतिष्ठन्ते । कुतः ? विकारहेत्वात् । किं
 विश्रिताः सन्तः ? असन्तः, काम्यः ? देवप्रभ्योपमोगान्धुबमठपतिताऽऽश्रातनाम्पः ।
 देवप्रभ्यस्य जिननैवेद्यादेः उपमोगः, सतत श्रयनं, भोजनादिकरणे उपमोगः, मुब-
 निषय मठपतिता—मठाधिपत्य, तथा भगवदश्रातनाः—क्षिनानां चतुरशीतिराश्रातनाः,
 एतेभ्यः विभ्यन्तः । कथम्भूते क्षिनुरे ? ‘गायद् गन्धर्वं’ स्यादि, गायन्तः गन्धर्वाः
 प्रधानगायनाः यत्र नृत्यन्त्यः पणरमभ्यो—वेद्या यत्र, रणन्तो—मधुरं चनन्तो वैज-
 यो—बंदाः यत्र, गुञ्जन्तो गन्धीरं स्वनन्तो मृदङ्गा प्रेङ्गन्त्योलम्बमानाः पुष्पस्रजः—पुष्प
 माला यत्र, छषत्—सर्वतः प्रसरत् आमोदद्वारेण मृगमदा—कस्तूरिका यत्र, लसन्ता—
 पङ्कजकमयत्वादीप्यमाना उल्लोषानि—वितानानि यत्र, महाघनवसनभूषणाङ्गरागादि
 भूपितद्वीरत्वाद् धोममाना जनौषाः—भाबकसमूहा यत्र, तस्मिन् ॥ ७ ॥

वसत्यधमाद्वारं निरसितुं श्लोकद्वयेनाह—

साक्षाच्चिनैर्गणधैर्य द्विवेचितोत्थं ॥ ८ ॥

विश्रोत्सर्गापवादे बरिह क्षिबपुरीदृतभूते निशीये ॥ ९ ॥

व्याख्या—साक्षात् सकर्ण -सम्भरणः कः पुमान् परशदे—शृङ्गस्पर्शे वमर्ति—

निवासं विदेष्टि । अकर्णः पुमान् कर्णो विना सिद्धान्तोक्तामपि परगृहवसतिम्—अनाकर्णवत्
 निवेद्येवपि । यः पुनः सकर्णः—भवजः स परगृहवसतिं यतीनामनुमोदयत्येव, न तु
 देष्टि । किं कर्णम् ? मुनिपुङ्गवानां—पतिभेष्टानां अनगारपदं ज्ञानम्—न विद्यते अगारो
 यस्येति ज्ञानम् । अथवा किं विद्विष्टां वसतिं ? 'क्षय्यातरोक्ति'मिति, क्षय्या वसतिरा
 क्षयात्ता यतिभ्यो दानतया, तरति मशाम्मोर्षि यया अनगारपदं क्षाले हि पतिवाच
 क्त्येन प्रतिपदं भूयते । ननु स्वगृह एव किमिति यतयो न वसति ? तत्राह—
 मुनिपुङ्गवानां निःसंगता—स्वमनादि राक्षस्य अग्रिमपदं—मुख्यस्थानम् । किमिच्छिता
 निःसंगता ? साक्षात्—प्रत्यक्षं जिनैः—तीर्थकृद्भिः निवेदिता—उपशुक्ला, स्वशुक्लेन
 उक्ता च क्वपिता, न केवलं जिनैर्गणधरैश्च—भौतमप्रसूतिभिः । पतीनां स्वगृहं नास्त्येव,
 अतः परगृहवसतिरेव श्रेयसीत्यर्थः ॥ ८ ॥

व्याख्या—'चित्रोत्सर्गा०' सर्वत्र—सर्वस्मिन् वसति अधिकारे आगारधाम्नि-
 गृहस्य गृह एव यतीनां निवासो न्ययामि, कोऽर्थः ? व्यवस्थापिता, न तु कापि—कस्मि
 अपि ग्रन्थे, चैत्ये—जिनगृहे निवासो निरूपितः । किं कृत्वा ? प्रागुक्त्वा—प्रबन्धं निखीये
 भूरिमेदाः—बहुमेदाः वसतीः उक्त्वा । किं विद्विष्टे निखीये ? चित्रोत्सर्गापवादे ।
 चित्रौ—मानाविधौ बहुप्रकारो उत्सर्गापवादादौ—सामान्यविधि—विशेषविधी पस्मिन् ।
 पुनः कथम्भूते निखीये ? द्विषपुरीद्वयभूते—सुकपुरीसन्देष्टहरसदृशे । पुनः किं कृत्वा ?
 पश्चात्—तदनन्तरं कारणेऽप्योद्य—अपवाद्यविषयीकृत्य । किं विद्विष्टे अगारधाम्नि ?
 श्रीसंसखयादि युक्तेऽपि—श्रीपण्डकादिसहितेऽपि । ननु विकारसामग्रीसहिते गृहस्व-
 गृहे कथं पतीनां निवासः ? इत्याह—अभिहितपतनाकारिणामिति—निखीयोक्तवतना
 सावधानानां संपत्तानां किं विकारहेतुभिरित्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु एव पतना सावधानानां चैत्यवासेऽपि को दोषः ? इत्यतः आह—

प्रब्रज्यापरिषिन्नं ननु धनस्वीकारमाहुर्जिनाः ॥ १० ॥

व्याख्या—“ प्रब्रज्या० ” ननु निमित्तं तीर्थकराः धनस्वीकारं—ब्रह्मस्याङ्गी-
 कारं प्रब्रज्यापरिषिन्नमाहुः ॥ कोऽर्थः ? दीक्षाप्रभृत् कथयन्ति स्म । क्व धनसंप्रदाह ?
 क्व दीक्षेतिद्वारम् । तु पुनः सर्दारंभ—परिग्रह—सकलपापसहितानां गृह्णन् । परिग्रहं अति
 महासाधनं अतिशयमहासपापं आचक्षते—कथयन्ति । तत्र गृहस्वपरिग्रहं, सर्वथा यतीनां
 नोचित इति द्वारम् । चैत्यस्वीकरणे तु माठपत्यमेव स्यात् । यदा पतीनां जिनगृहस्य

स्वीकारास्तदा मठाधिपत्यमेव भवेत् । कथम्भूत माठपत्यम् गर्हिततमं-प्रकर्षेण निन्दित । यद्वा इति हेतोर्मुष्क्यर्थिनां पुंसां इति ममता युक्ता न-द्रुष्यादिषु ममत्वं युक्तं नेत्यर्थः । कथम्भूता ममता ? अतश्चैरिषी चारित्र्यमुभूता ॥ १० ॥

तत्र दण्डद्वाराणां मध्ये षड् द्वारा निषेध्य अश्लिष्टद्वारचतुष्टय निषेधयितुमाह श्लोक चतुष्टयेन—

भवति नियतमत्रासंयमः स्वाद् विभूषा ॥ ११ ॥

गृही नियतगच्छमाह किनगृहेऽधिकारो यतेः ॥ १२ ॥

निर्वाहार्थिमसुखित गुणक्यैरजातधीशाम्बयं ॥ १३ ॥

दुष्प्रापा गुणकर्मसंचयवतां सख्यैर्जुद्धिर्नृणां ॥ १४ ॥

व्याख्या—अत्र श्लोके सप्तम द्वारं गच्छिकाघासने निषिध्यते । अत्र गच्छिका घासने विभूषा स्यात्-श्रीमा भवेत् । न केशलं श्रीमा, असंयमश्च भवति । कोऽर्थः ? जीवरक्षाऽमावश्च भवति नियत-सर्षदा गच्छिकाघासने 'कथं श्रीमा भवेत् ? तत्राह- "नृपतिकुड्द" एतद्विति, यतः एतदासने नृपतिकुड्द-राज्यचिह्नमिति । तर्हि श्रीमाऽप्य मीष्टैवेत्याह-श्लोकदासधेति गच्छिकाघासने मिश्रोः केशलं श्रीमैव न भवति किन्तु श्लोको पहासश्च भवति-'अहो ! मिश्रोपजीविनो सुखिता अपि एवंविधेष्वघासनेषूपविशति' । इह संगः श्लोकविदितः गच्छिकादौ परिग्रहः, उच्यैः-अतिद्वयेन सातधीसत्त्वं-सुखं लोच्यता, इति हेतोर्मुष्क्योः मोक्षामिलापिचः पुरुषस्य गच्छिकाघासने संगत न-युक्तं नेत्यर्थः । इति सप्तम द्वारम् ॥ ११ ॥

साप्तधाचरितादरारूपमष्टम द्वारं निरूपयन्नाह—

व्याख्या—' गृही नियतगच्छ० ' गतानुगतिकैः-गृहिकाप्रवाहरूपैः अन गारिणां-पतीनाम् असंस्तुतम्-अनुचितम्, अदः-एतत् कथं प्रस्तुतं-प्रारब्धम् । एतत् किं ? गृही-भावको नियतगच्छमाग्नं भवति, कोऽर्थः ? आत्मसदृशो गच्छो येषाम् तेषां मेघं समुदायं मन्त्रेण गुणदोषादिकं विचारयति अन्य यतेः मूनेः किनगृहे अधिकारः एतदपि विरुद्ध-मेव, अपरं च आरंभिमिः-गृहमिः साधुषु-यतिषु यथा तथा, कोऽर्थः ? येनैव प्रकारेण तेनैव अष्टममपि मन्त्रनादि-भक्तपानादिप्रदेय-वितरणीयम् । एतदपि विरुद्धमेव । अपरं च अत्रादिभिन्नधारणं-मर्षविरत्यादिविधेर्धारण-निषेधः । एतदपि विरुद्धम् । सुविदितान्तिके-सन्तिके-सं-मुनिसमिपे कथं प्रारब्धमित्यर्थः ॥ अष्टम द्वारम् ॥ १२ ॥

नवम द्वारं निषेधयितुमाह—

व्याख्या—निर्वा० जनाः—लोकः यत् ईदृशं यतिं देवेभ्योऽपि—विनेभ्योऽपि अधिकं यथा स्यात् तथा अर्पयन्ति—पूजयन्ति तत् महतः—प्रबलस्य मोहस्य—अज्ञानस्य नृम्मित—लीलायित । कीदृशं यतिं ? निर्वाहायिनं, कथं ? निर्वाहो—जीविका भवतीत्यय मेवार्थः प्रयोजन यस्य तम् । पुनः कीदृशं ? गुणलवैः—गुणलेखैरपि उज्जित—स्यक्तम् । पुनः कथम्भूतं ? अज्ञातशीतान्तर्यं अविविधाचारकुलं पुनः कथम्भूतं गुरुणा—आचार्येण स्वार्थाय—प्रयोजनाय मृच्छीकृत—दीर्घा नीतम् । कथम्भूतेन गुरुणा ? तारुण्यवतत् गुणेन—तारुण्यक्षिप्यवृद्धातेन तद्गुणेन—क्षिप्यसदृशगुणेन । किंविशिष्टा जनाः ? विरुधात् गुणान्वया अपि—प्रसिद्धगुणवृद्धासा अपि । अकुलीनाः—कुलीनं पूजयति तदा पूजयन्तु, (किन्तु) कुलीना अपि अकुलीन पूजयन्ति, इतिमोह प्रावक्ष्यम् । पुनः किंविनिष्टाः ? लग्नो प्रगच्छद्गद्गाः—चेतसि निविष्टो यः उग्रगच्छप्रतिबन्धः तद् युक्ता इत्यर्थः । द्वारम् ॥९—१३॥

‘गुणद्वेषी’ इतिद्वारं निषेधयितुमाह—

व्याख्या—बुद्धमाप्त्वा० ॥ गुरुकर्मसम्पन्नता—गरिष्टसंसारबन्धहेतुकर्मबुक्तानां प्राणिनां सद्धर्मबुद्धिर्बुद्ध्याप्या, कोऽर्थः ? दुःखेन प्राप्यते तस्यां सद्धर्मबुद्धौ आतापामपि उत्पन्नापामपि भ्रमगुरुर्बुद्धम यो गुरुरित्तरं किञ्चिदुपदिशति । सोऽपि भ्रमगुरुः बुद्धेन यदि प्राप्यते तथापि अमी जनाः स्वहितं कर्तुं नालं—आत्मनो हितं कर्तुं न समर्थाः । किं विशिष्टा जनाः ? गच्छस्थितिभ्याहताः—‘युष्मत्कुलादतोऽयं गच्छस्तव एवं बन्धं त्यक्त्वा भवदुमिर्नान्यपार्श्वे भवन्न—सम्यक्व्रतप्रतिपत्त्यादिकं विधेयम्’ इति गृहस्वस्य पतिविहिता व्यवस्था, तथा गच्छस्थित्या भ्याहताः—बद्धीकृता इत्यर्थः, अतो हेतोः किं ह्यमः—किं मणामः ? इह—संसारे, किम् आभयेमहि—निषेधेमहि ? किम् आराधयेमहि—कन्याराचनां कुर्मः ? किं वा कुर्महे—विद्मः, इति वक्ष्यम द्वारम् ॥ १४ ॥

एतेन प्रयन्याऽपि कुलीनस्यैव योग्यति प्रतिपादयन्माह—

सुरक्षामः किञ्च कोऽपि रद्विशिष्टकः प्रमत्त्य चैत्ये कश्चित् ॥ १५ ॥

व्याख्या—‘सुरक्षामः’ किञ्चेति संभाषणे कोऽपि रद्विशिष्टकः—महातनामा सुरक्षाममन्—बुद्ध्यादुर्धमः सन् कश्चिदनिर्दिष्टनाम्नि चैत्ये—अिनगृहे प्रमत्त्य—दीर्घां गृहीत्वा कञ्चन भावकं पश्य कृत्वा तदाचार्यकं प्राप्तः—सुरिपत् गतः सन्, कथम्भूतः ?

अक्षतकलिः अम्बुहितकलह विप्रम्-आमर्थ-चैत्यगृहे गृहीयति गृह इव आचरति ।
निजे गृहे कुटम्बीयति-कुटुम्ब इवाचरति । स्व-आरमान शक्रीयति-शकृमिवाचरति
पुषान्-पण्डितान् बालिनीयति-मूर्खानिवाचरति । विष्व-स्रगत् पराकीयति-रङ्गमि
वाचरति, अतो मूर्खबहुल स्रगत्, पतेः कुलशीलादिक न विचारयति किञ्चित् मोहनोवा
टनाद्यदुत्तमवलोक्य दुष्टमपि यतिं देववत् पूजयन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अस्मिन्नेवार्थे-अपरमपि वृत्तमाह—

येकांतो न च वर्द्धितो न च न च क्षीतोऽपमर्णो न च ॥ १६ ॥

व्याख्या—यैर्जातो० ॥ तैरेव अपमार्थैः-अत्यथमैः यतिभिः अप जनो-लोक
बलात् हटात् बाह्यते-यत्र तत्र नीयते अतः हा ! इति फटे इव अगत् नीराजक-राजशून्य,
राजा चेद् मवति तदा एतदनुचित न मवति-इत्यर्थः । तैः कैः ? येः यतिभिरप लोको
न जातः-नोत्पादितः योगधेमादिसंपादनेन, यैर्न च वर्द्धितः-शरीरपोषण न प्रापितः,
यैर्न च क्रीताः-अन्यस्मान्मूरयदानेन न गृहीतः, न च अपमर्णेन-उद्वारादिप्रयोगेण
गृहीतः, न च प्राक्-पूर्वं दृष्टः-अवलोकितः, न च बान्धवः पितृभ्यभ्रातृसम्बन्धवान्,
न च प्रेयान् बह्वमतरः, न च प्रीणितः-तोषितः । एतावता ये यतयः न दृष्टा, न ज्ञाताः,
न च सवचिनाः, तैर्दुर्दैर्यतिभिः अथ जनो लोकः बलात् बाह्यते । किंवत् ? नस्योत्
पद्यत् यथा नस्यतः पञ्चमत्र तत्र नीयते इत्यर्थः । 'चकार' सर्वप्रसुचयार्थः ॥ १६ ॥

कृपयावस्थितसहजनानबलोक्य प्रकरणकारः प्राह—

किं दिग्मोहमिताः किमप्यवधिराः किं योगचूर्णकृताः ॥ १७ ॥

व्याख्या—' किं दिग्मोह० ' पद् पस्मादेतोः जमी जङ्गाः-मूर्खाः जनाः
कृपयात्-कृमार्गात् व्यावृत्तिम्-अपसरण न दधते-न कुर्वते तस्मादेतोः एते जनाः-
लोक्याः किं दिग्मोहम् इताः पूर्वादिदिग्बु पश्चिमादिविभ्रमः दिग्मोहः त प्राप्ताः ? । किं
अचवधिराः जाताः ? जन्माः-नेत्रहीनाः । वधिराः-कर्णहीनाः । किं वा योगचूर्णी
कृताः ?-मस्तकादिषु चूर्णधेयेण बन्धीकृताः । किं वा द्वेषोपहृताः ? द्वेषेन-विधिना
उपहृताः-विभ्रंश प्रापिताः । ' अंग ' ति संबोधने । किं वा ठगिताः ?-स्वायत्तीकृताः ।
किं वा ब्रह्मवेष्टिता ?-भूतादिशरीराधिष्ठानाः । न केवलं कृपयप्रवृत्ताः एव सति किन्तु
एतत् कृते, कोऽप्यः ? भिनमार्गकृते भिनमार्गनिमित्तं मद्यन्ति च-ईर्ष्यां कुर्वन्ति च ।

किं कृत्वा ? भ्रुतस्य मूर्त्ति-ध्यात्मस्तके पद-धरणं कृत्वा-विधावेत्पर्यः किञ्चिद्विष्टा मयी !
 एतौक्योपा अपि-साक्षात्कथोक्तिरूपययोपा अपि अदृष्टयोपा हि विवेकिनोऽपि कृपयात्
 निवर्तितु समीहन्ते किं पुनः अन्वेऽपि दृष्टयोपाः ते मूर्त्ता अपि कृपयात्निवर्तन्त इवेति
 श्लोकार्थः ॥ १७ ॥

सिद्धान्ते हि रत्नान्यां विनस्नात्रं पापपके निमज्जनाय प्रवर्दति इत्यत आह—

इष्टावाप्ति-मुह-विटमटमटचेटकपेटकाकुम्भ ॥ १८ ॥

व्याख्या—‘ इष्टावाप्ति० ’ विन मज्जनं-विनस्नानं अविधिना-सिद्धान्तोक्तविधि
 विपरीत्येन मूढजनेन विहितः सन् अथयद्दे-पापकर्दमे निमज्जनमेव जनयति, श्लोऽर्थः ?
 सिद्धान्तोक्तप्रकारेण यदि देवस्नात्रं न विधीयते तदा स्नात्रादपि नररूपतनमेव भवती
 त्वर्थः । कथंभूत स्नानम् ? इष्टा वाप्ति सुष्टविटनट-मटचेटक-पेटकाकुम्भम्, इष्टायाः-
 प्रियायाः स्नात्रदर्शनं व्याख्येनागताया अवाप्तिः-मिलनं, तथा सुष्टाः विटाः ‘निःशङ्क
 मन्त्राद्यनः सुरतलीलाप्रवर्तिष्यते’ इति धिया मुदिता विटाः-वेद्ययापतया, नटाः-नर्तकाः,
 मटाः-शास्त्रादिकलाधीविना, चेटकाः-मासादि नियमित[वृत्ति]प्राहिणः, पतेपां पेटका-
 समूहः, तेन आकुम्भं-शुभितम्, पुनः कथंभूत स्नात्रं ? निधुवनविधि निबद्ध दोहद नरनाती
 निकरसंकुलं-निधुवनं-सुरतं तदर्थं निबद्धो दोहदः-अमित्तापो पैस्तैर्नरनातीनिहृते-
 समूहैः संकुलं-व्याप्तं । कथंभूत स्नानं ? रागद्वेषमरसरेषांवनं-रूपयित् परवर्तिनी
 प्रति रागः-स्नेहः, स्वप्रेयसी मन्वेन सह संगच्छमानां पश्यतस्तज्जिपांसया द्वेषः,
 मत्सरश्च-स्ववञ्जामामन्येन सह कृपन्तीमबिलोक्यतः पुरुषस्य, असहिष्णुता-ईर्ष्या,
 तामिर्षनं-सान्द्रम्, एतावता सकलविकारसामग्री परिपूरितमूर्त्तमनवि हित-स्नानादपि
 नरके पतनमेव भवीत्यर्थः ॥ १८ ॥

न केवलं स्नात्रमेव नरकजनकं किंतु अविधि कृत प्रतापपीत्याह—

विनमतविमुक्त-विधित-महिवाय न मज्जनमेव केवलं ॥ १९ ॥

व्याख्या—‘ विनमत् ० ’ केवलं विनमत्-विमुक्तविहितं-विनमत्विपरीत
 कृत मज्जनमेव ‘ महिवाय ’ संसाराय न भवति किं तर्हि ? (किंतु) उपपरित्रदानाद्यपि
 अनघनादि सर्वविरति अपि विनमत्-मुक्तिरूपफलं न जनयति । एतावता विनमत्
 विपरीत कृतं सर्वमेव निष्फलमेवेति श्लोकार्थः । हि-यतः कारणात् अविधिविधि क्रमात्
 सिद्धान्तानुक्तोक्तप्रकारेण, सिद्धान्ते यथोक्तं तेन प्रकारेण विनाज्ञापि-अर्हदागमोक्ता

मुष्ठानमपि अश्रुमश्रुमाय-अक्षरपाशसंपत्तये ज्ञायते । ' कि 'मित्याक्षेपे वाक्यमेदे
 वा, ' पुन 'रिति ह्रस्वप्रकारेण अहितहेतु-संतारणचनहेतुः विहम्बनेष-लोकोपहासा
 स्पदमत्र न प्रसार्यते न विस्तार्यते ? अपि तु विस्तार्यत एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

अन्यदप्याह—

अिन-गृह-जैनविम्ब-अिनपूजन अिनयात्रादि विधिभूत ॥ २० ॥

व्याख्या—' जिनगृह '० इह-प्रवचने एतदपि सर्वं स्फुट-प्रगट् व्यक्तमेव
 अनभिमतकारि भवति-अनिष्टविधायि भवेत् ॥ कस्मादित्याह—कुमत-कुगुरु-कुप्राह
 कुबोध-कुदक्षनांशतः, अस्मार्थः-कुत्सित मर्त कुमत, कुत्सितो गुरुः कुगुरुः, कुप्राहः-
 सिद्धान्तग्राह्यस्वमतिकल्पितासम्पदार्थसमर्पणानुष्ठानविषयो मानसोऽभिनियेशः, अिन
 शास्त्रस्याज्ञानादन्यथा परिच्छेदः कुबोधः, सिद्धान्ताभिहितार्थानां वि-पासेन प्ररूपणा
 मयिता कुदक्षना, तासाम् अंशतः-लेखतः । एतत् किं ? अिनगृह-अईद्वयन, जैनविष-
 मागवती प्रतिमा, अिनपूजन-मगवत्पूजा, अिनयात्रादि-मगवत्कस्याणकाष्टादि
 कादि, एतत् सर्वं विधिभूतमपि-अिनोक्तप्रकारेण निष्पादितमपि दानवपोत्रवादि-दान
 तपसी पूर्वं व्याख्यातम्, अतादि-स्पृष्टप्राणातिपातविरमणादि, गुरुमक्तिः-प्राचार्य
 श्रुभ्या, श्रुतपठनादि-सिद्धान्ताध्ययनं । एतत् सर्वमपि उक्तहेतोः अनिष्ट विधायि
 भवेत् आदृतमपि-सबहुमानमपि । किमिष ? वरमोजनमिष यथावसरं ह्ययं मोक्षन
 विफलमनिष्टेयतः-गरलक्ष्यनिष्टेयात् अनभिमतकारि भवति-अनिष्टविधायि भवति,
 एतावता कुमतादि संसर्गाअिनपूजनादिकमपि श्रुमदायि न भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

सकपटपतिं वर्णयसुमाह—

आकृष्टं शुभ-मीमाम् अक्षिमापिशितवद् विम्बमादृश्य जैन ॥ २१ ॥

व्याख्या—' हा ' इति कटे, अय जैनो-लोकः घटैः-पूर्व्यतिमिः वक्ष्यते-
 विप्रलम्बत । किं विशिष्टः ? अज्ञातः-विवेकविकलः घर्मेच्छानान्, क इव ? आकि-
 न्यादिवशीकृत इव यथा आकिन्यादिवशीकृतः फनविद् वक्ष्यत ॥ कैः ? यात्रायात्रा
 घुपायैः, यात्रा-अिनयात्रा, यात्र-अिनज्ञानम्, इत्यादयः उपायाः-प्रकारास्तैः, न कथं
 यात्राघुपायैः, नमसितक-निश्चानागरादिच्छलेष, नमसितक-उपपादितकं " मवता
 यिदानीमीदृश उपद्रवः समुपस्थितस्तस्माद् भवतिस्तद्विद्वय अिनगोत्रज्ञानसुरार्था

इयन् द्रव्यमेवपीय"मिति । निष्ठाभागरादिच्छलैः-रात्रिजागरणादिव्यात्रैः किं कृत्वा
 वञ्चयते ? जैनविम्ब आदर्शं दर्शयित्वा, कोऽर्थः ? जिनप्रतिमां दर्शयित्वा । न केवल
 जिनप्रतिमां दर्शयित्वा तन्मात्रा-जिननामधेयेन स्वेष्टसिद्धौ-आत्मानिमत्तनिष्पत्तये
 गृहान् कारयित्वा, कथम्भूतान् गृहान् ? रम्यरूपान्-मनोहरान् किन्तु दर्शयित्वा ?
 सुग्धमीनान् आकृष्टं भक्षिष्यतिशितवत्, यथा व्याधो बद्धिज्ञे-मस्तवेचने पिशित-मांसं
 विधाय सुग्धमीनान्-सुग्धान् मत्स्यान् आकर्षयति ? हेयोपायोदेयविचारसून्यतया धर्म
 भद्रासत्त्वत्पञ्च मत्स्यास्तान् ॥ २१ ॥

सर्वत्रात्मगिताभवाः स्वविषयव्यासक्तसर्वेन्द्रियाः ॥ २२ ॥

व्याख्या-कष्टमिति स्वदेन उद्धतधियाः- 'नास्त्यस्मत् समो भगति संप्रति
 कथन'ति दर्पाभ्यासपुद्गयः सुप्पन्ति-मोदन्ते, पुप्पन्ति-वर्द्धन्ते च, किं कृत्वा ? सद्गुनि
 मूर्द्धसु स्थित्वा-गुनिमस्तकपु स्थिति विधाय, किं विश्रिताः ? अन्त्याभर्यराजाभिताः-
 दक्षमाभर्येनुपासुगताः, यथा नीचा अपि कथन राजादेरवष्टम्भेन महतामपि मूर्धानमा
 रुह्य पुष्पति । एवमेतेषु दक्षमाभयराजाभिता महागुनीन् परिभूय पुष्पन्तीत्यर्थः ।

पुनः किं विश्रिताः ? सर्वाकृत्यकृतोऽपि-कोऽर्थः ? लोकलोकेश्वरविहङ्गा-अत्र
 सेवनपुष्पकलाद्युपमोगाद्यसदाचारकारिणोऽपि सर्वमकृत्य कुर्वतीत्यर्थः । सर्वत्रास्व
 गिताभवाः लोकममद्यम् अनिरुद्धपञ्चाभवाः । पुनः किम्भूताः ? स्वविषयव्यासक्त
 सर्वेन्द्रियाः, स्वविषयपु-स्पर्शादिषु व्यासक्तानि-विश्रयणसंग्रानि इन्द्रियाणि-स्वगा
 दीनि येषां ते । पुनः किम्भूताः ? वस्त्रादूगौरयचण्डदण्डतुरगाः, परगन्तः-पदच्छया
 प्रसरतः गौरवैः चढाः-उत्कृताः, दढाः-अकृश्लमनोवाक्याया एव तुरगा येषां ते ।
 पुनः किम्भूताः ? पुष्पत् कपायोरगाः सुपुष्टक्रीडनर्थाः । एतावता पञ्चाध्वभिरमर्गे-
 पञ्चेन्द्रियनिर्ग्रहे-दण्डप्रयत्नेति-कपायचतुष्टयर्षय-रक्षणसप्तदशविधसंप्रमहिनीना अपि
 ते सत्साधूनतिक्रामन्ति, इति श्लोकायः ॥

इदानीं दुष्टपवित्रयो गृहस्या एव धेष्टा इति दर्शयितुमाह-

सर्वारम्भ-परिमहरय गृहिणोऽप्येकाशनापेकदा ॥ २३ ॥

व्याख्या-'सर्वारम्भ०' गृहिणोऽपि हृदि सीत्रानुतापो भवेत् । निष्ठुर
 पञ्चाशापो जायते । किं विश्रितस्य गृहिणः ? न रयता-न पालयता, किम् ? एका

धनादि-एकमक्तादि, किं कृत्वा ? प्रत्याख्याय-नियम्य । क ? एकदा-अष्टम्यादि
 विधिषु । यदि कश्चिद् गृहस्पः अष्टम्यादिविधिषु एकमक्तादेर्नियम गृह्णाति पश्चात्
 तं-स्वप्नयति तस्य वेतसि महान् पश्चात्तापो भवतीत्यर्थः । किं विशिष्टस्य गृहिणः ? सर्वा
 रम्मस्य परिग्रहस्य-सकलपापव्यापारतत्परस्य सदा-सर्वदा, ये पुनः त्रिधा-मनोवाङ्-
 कापारूपेण त्रिविधं-कृतकारितानुमतिलक्षण पापं पदं कृत्वा-पद्धाराम् प्रतिदिन-प्रति
 वासरं श्रोष्यापि तस्माजपि मञ्जन्ति-स्वप्नयन्ति तेषाम् असाधूनां क तपः ? तपो
 नास्ति, सत्यवचन च नास्त्येष । ज्ञानिता-सिद्धान्तपरिच्छेद्यत्वं च नास्ति । प्रत
 दीक्षा च नास्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

देवार्थ-व्ययतो यमादधिकृते सर्वैरुत्तरे मठे ॥ २४ ॥

व्याख्या—‘ देवार्थ० ’ महो ! इति आथर्षे सितपटाः-श्वेताम्बराः कष्टं व्रतं
 परन्ति-दुष्करं चारित्र्यं अनुतिष्ठन्ति । किं विशिष्टा ? साधुव्यासविदाः-परिव्याजेन
 पूर्णाः । पुनः कथम्भूताः ? यथा कश्चिच्छते-स्वमनोमिलापरूपे मठे नित्यस्थाः सर्वदा
 मनोरमजिनगृहनिवासिनः । किं कुर्वन्तः ? देवार्थे व्ययतः-तरेवद्रव्य व्यय कुर्वन्तः ।
 कथम्भूते मठे ? सर्वैरुत्तरे-सकलवसंतादिशतमनोहरे । पुनः कथम्भूताः ? श्लेषिपद्
 तुल्यप्रयनाः-निर्मलपद्मवस्त्रपुत्र तुल्यप्रयनाः कोमलशय्याशयिन इत्यर्थः । पुनः कथ
 म्भूताः ? सङ्गन्दिक्काद्यासनाः-कोमलगन्दिक्काद्यासनमात्रः । पुनः कथम्भूताः ? सार
 म्माः आरंभसहिताः । पुनः कथम्भूताः ? सपरिग्रहाः-घनधान्यादिमाण्डसंग्रहपरायणाः,
 सविषयाः-विषयासक्तचेतसः सेर्ष्याः-सक्रोधा । सक्राह्याः सम्मोगविलासोत्कण्ठिताः,
 सदा-सर्वदा ॥ २४ ॥

इत्यापुद्गतसोपहासवचसः स्युः प्रेत्य लोकाः रिपति ॥ २५ ॥

व्याख्या—‘ इत्यापुद्गत० ’ येषां मिथ्योक्त्या-मिथ्यास्वप्ननेन सुदृष्टोऽपि
 सम्पगृह्णाना अपि मनो विभ्रति-चारयति । कथम्भूत मन ! सन्देहदोलाचलं इदं
 समापीनं इदं वा इति य सन्देहः स एव दोला-हिन्दोलकस्तेन चञ्चल, ननु निश्चित
 सर्वथा भिनपयप्रत्यर्पिनः, कोऽर्थः ? अर्हपयप्रभूताः लोका-जनाः स्थितिम्-अना
 चाररूपा भूत्वा इत्यापुद्गतसोपहासवचसः स्युः, कोऽर्थः ? उक्तप्रकारेण सदास्वप्नना
 मवेयुः-‘ महो जैनाः अन्यथानादिनः अन्यथाकारिणः, अस्माकमेव दर्शनं येषां,
 इत्यादि स्वप्नसन्दर्भेण, अतो हेतोः ममिहस्ता अपि जनाः भूतवपात्-भिनसिद्धान्त

मार्गाद् वैशुध्य-विमुक्ततां आतन्वते-विस्तारयति । मिथ्यायादिनां मिथ्यावचनेन
अमिथुस्ता अपि जना जिनमार्गाद् विमुक्ता भवन्ति, इति श्लोकार्थः ॥ २५ ॥

सर्वैरुक्तकालकृतपटलैः सर्वैरपुण्योच्यैः,

व्याख्या—‘सर्वैरुक्त०’ ॥ २५ ॥ ‘ततः’ इति पश्चात् श्लोकस्यात्र वर्तते ।
ततो हेतोः-पश्चाद् हेतोः-अमु-दुर्मागम् आसेदुपा-प्रस्थितानां मानसं नून निश्चितं
एतैः कुरमकारि-कूरं कृतम् एतैः कैः ? सर्वैः उक्तकालकृतपटलैः अस्त्युप्रविषसमूहैः न
केवलं उक्तकालकृतपटलैः सर्वैः अपुण्योच्यैः-सकलपापराशिभिः, न केवलमेतैः सर्वैर्पा
सकलैश्च-अशेषसर्वसमूहैः, न केवलमेतैः समस्तविपुलाभिध्याधिदुष्टग्रहैः सकलदुःखमनो
व्यथामङ्गलादिपापग्रहैः । कथम्भूतानां ? दौरास्त्वेन-दुष्टास्यत्वेन जिनपथं निबन्धु
पाप्-उच्छेदुषां, पुनः कथम्भूतानाम् ? वचनेन इति ऊचुषाम्-अमिदुषाम् ॥ २५ ॥

अतः—

दुर्मेषस्फुरदुमङ्गप्रहतमः स्तोमास्तथी चक्षुषां ॥ २७ ॥

व्याख्या—‘दुर्मेषस्फुरदुमङ्ग०’ अतो हेतोः सदा-सर्वदा मिथ्याचारवतां-
मोक्षमार्गविपरीताधारमुक्तानां वचांसि सकर्णः-समवयवः कथं कर्णे कुरुते ? कथं भवणे
धारयति ? अपि तु न कथमपि इत्यर्थः । कथम्भूतानां मिथ्याचारवतां ? स्वयं नहा
नाम् पुनः कथम्भूतानाम् ? अन्यनाशनकृते-परनाशाय यदोषमानां स्वयम् नष्टा परा
नपि नाशयन्तीत्यर्थः । पुनः कथम्भूतानां ? ‘महापोहाद्’ एन-प्रचुरवरा-विवेकात्
‘अहं मानिनां’-अहंमेव, नान्यः इति मानिनां । पुनः कथम्भूतानां ? सिद्धान्तद्विपत्तां-
जिनघातवैरिणाम् । पुनः कथम्भूतानां ? दुर्मेषस्फुरदुमङ्गप्रहतमः-स्तोमास्तथी चक्षुषां-
दुर्मेषाः दुश्चेष्ट्या स्फुरन्ती-मनसि आग्रदूक्याः ये उग्रदुष्टदाः-जिनगृहनिवासादप्यस्त
यत्र तमास्तोमाः-अ-प्रकारपन्थानि, तैरस्त प्रापितं धीरेण चक्षुष्येषां तेषाम् ॥ २७ ॥

यत्किञ्चिद् वितथ यदप्यनुचितं यद्वोक-लोकोत्तरो ॥ २८ ॥

व्याख्या—‘यत् किञ्चित्०’ यत् क्वचिपि-कुमुदयः तत्तदर्थं इति ज्ञपन्ति-
अयमेव धर्म इति कथयन्ति तत् दुरन्त-दक्षमाभ्यस्य विस्फुरितं-विभ्रुमितं, तत्,
किं यत् किञ्चित् वितथ-अतीक यदिति सामान्यतो निर्दिष्ट विज्ञेयतोऽनिर्दिष्टनामा,
यदप्यनुचितम्-प्रयोग्य यद्वोकलोकोत्तरोपीर्ण-जिनमार्गाद् बहिर्भूतं जिनप्रवचनबाध

भिनमार्गाद्वितीतमित्यर्थः, यद्भविनां-देहिनां यवहेतुरेव येन संसारधन्वो भवतीत्यर्थः, यतः द्वाब्जबापाकरं-सिद्धान्तविद्वद् न केवल कर्म इति कथयन्ति । अर्हन्मतभ्रान्तपाठान्ति च, कोऽर्थः ? भिनमार्गोऽयमिति सिद्ध्याज्ञानेन गृह्यन्ति च, कथम्भूतास्ते ? मूढाः ॥ २८ ॥

साम्प्रतं गृह्य भवान् प्रति स्वमतं मोक्षपथतया विद्वत्, सत्ययगामिनश्च धार्मिकान् स्ववचनाननुरोचित्येनाद्यतया भवजनानस्य कस्यचिद्यथा छन्दाचार्यं प्राप्तव्योऽप्रस्तुत प्रसंसया स्वरूपमाह—

कथं नष्टविज्ञां क्षुणां यद्विद्वतां ज्ञानन्धवैदेसिकः ॥ २९ ॥

व्याख्या— 'कथं' दुःखमेतन्नभवेतसि पचते, यस्मिन्मिदयाह-यदिति वाक्योपश्लेषे, पशुनामदृष्ट्यां आस्य-चवैदेसिकः कान्तारेऽमीप्सितपुराप्यानं प्रविशतीति सम्बन्धः । तत्र 'क्षुणां' पुंसां नष्टदृष्ट्यां-अछोचनत्वात् कान्तारपातेन दिग्भूदत्वाच्च प्रस्रष्टप्राचीप्रतीच्यादिक्कुपुषिमागपरिच्छेदानां, अदृष्ट्यां-कायकामलादिनां वृग्विकलानां, न तु जन्मान्धानां, जन्मान्धो ज्ञामामिष्यास्या छोचनरहितः । ननु सोऽपि तद्वेद्यमात्र इतरेभ्यः भवत्वादिना विज्ञाय कथञ्चिद्विद्वत्पुरपथं देक्ष्यतीति तत्रोक्त "वैदेसिक" इति, विदेक्षे-योजनशतम्बद्धिते देक्षान्तरे ज्ञातो वर्द्धितमेति वैदेसिकः । सहि तद्वेद्यस्वरूपमात्रस्याप्यनभिज्ञत्वात्कथं प्रकृतमार्गं ज्ञानीयादपि । ततः कर्मधारयः । कान्तारे' अनसञ्चारशून्ये दुर्गवर्त्मनि 'प्रदिवसति' प्रतिपादयति अमीप्सितपुराप्यानं-विषमिपिसनगरमार्गं, क्लिप्तेति चार्त्तार्यां, उत्कन्धरः-उदुभीदः कचरागुणमप्य सुखदग्दुःखतिष्ठप्य कथयतीति कथमेतत् । तः पुनरर्थे, इदं वक्ष्यमाणं पुन कथतरं-पूर्वसादपि कथान्माहाकथं, यत् किमिदस्याह-'सोऽपि' प्रागुक्तो मार्गद्विष्टा 'सुदृष्टो' निर्मलनयनानत एव 'सन्मार्गगान्' इत्यनगरसुममपचप्रस्थितान् तद्विदः 'सम्पक्सन्मार्गज्ञानं यत् इत्यति, सावज्ञमिति क्रिया विशेषण, सावहेलं अज्ञानिच, यथा मार्गमिज्ञा मार्गसुपदिशन्त उपहस्यन्ते लोकेन, तत्रैतेऽपि तेन । एवं प्रस्तुतसुपमानं योऽपिस्वा प्रस्तुतसुपमेयमिदानीं योजयते, कथमेतत्-'यत् क्षुणां' सत्यवेच्छुपुठपानां नष्टदृष्ट्यां-अतिगृह्यतया सत्यपकृपयविमागानमिद्वानात्, अदृष्ट्यां सम्पगज्ज्ञानदर्शनपिकलानां आस्य-चः-सिद्धान्तरहस्यलेखानमिद्वः सर्वथा अगीतार्यः, सोऽपि गीतार्थसंवासादेः कथञ्चि-मोक्षपथकथनप्रवीणः स्यात्तत्राह-वैदेसिको गर्हितवाचारस्याद् गीतार्थसुनिपुण्यसङ्गमात्रवर्द्धितः एव चाधुनिकदुस्त्रहप्रबरो निदग्द्व निभेयसपथप्रत्यर्धिमार्गंरूपनदीधितोऽयं यथाछन्दश्चिरोमणिः कश्चिदा

चार्यो मन्तव्यः । कान्तारे-मन्महाटव्यां प्रदिशति अमीप्सितपुराभ्यान्-शुक्तिमार्गं
 उत्कण्ठरो-दर्शिताद्द्वारविकारः, तथा च सोऽजीतार्थः उत्सृज्यमानो मिथ्यादृष्टिः
 कश्चिदपि सत्यं मोक्षमार्गं न वेत्ति, नाप्यन्वेन गीतार्थेन प्रतिपादितोऽपि प्रत्येति इति
 कष्टं, एतत्कष्टतरं त्विति पूर्ववत्, सोऽपि प्रागभिहितो यथाच्छन्दार्थः सुदृशः-सम्य-
 ग्ज्ञानदर्शनयुक्तः मन्मार्गान् ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणशुक्तिपत्रप्रवृत्तान् तद्विदो-शुक्ति-
 मार्गविज्ञान् धार्मिकान् सुबिहितसाधून् यत् इति सावज्ञमज्ञानिन्, यथा-कममी अगी-
 तार्था भूर्सेधिरोगणयः सिद्धान्तरहस्यं ज्ञानन्ति ? अहमेव सकलभ्रुतपारावारपारद्वया,
 ततो पमहं अवीमि स शुक्तिमार्गं इति । किमित्येवमुपहसतीत्यत आह-तन्महाकष्टमित्यु-
 पमानोपमेययोस्तु स्यतया योचना । अत्र च मुग्धजनपुरतो निरङ्कुश स्वकल्पितं चैत्य-
 वासादिकमुत्सृज्यपथं प्रवयद्विधिविषयपारतन्त्र्यप्ररूपभानिपुजान्, सुगुरुसम्प्रदायाजुवर्तिनः
 सुबिहितान्प्रययोपहसन् सम्प्रति वर्तमानः कुसुमाचार्यवर्गोऽनया मङ्गला कविना प्रति-
 पादित इति वृत्तार्थः ॥ २९ ॥

साम्प्रतं भ्रुतपथावज्ञाद्द्वारमुपसञ्चिर्हीर्षुः श्रुतविनमार्गस्य दुष्टोपधितसमुदितका-
 रणकलापेन सम्प्रति दुर्लभस्त्वं प्रतिपादयन्नाह—

सैवा हुण्डावसर्पिष्यमुसमपहसद्मभ्यमावाजुमावा ॥ ३० ॥

व्यरूपा—‘सैवा हुण्डा’ ॥ एव अमुना प्रकारेण अनुकूल-प्रतिसमय दुष्टेषु-
 क्रूरेषु पुष्टेषु सत्सु जैनमार्गो दुर्लभः-अर्हस्ययो दुष्प्राप्यः, यदा तु मूराः पुष्टास्तदा जैन-
 मार्गो दुर्लभो जात इत्यर्थः । एवं कथं ? सैवा हुण्डानास्त्री अवसर्पिणी-कालविज्ञेयः ।
 कथम्भूता-अवसर्पिणी ? अनुसमर्थं इत्यङ्गभ्यमावाजुमावा, अनुसमर्थं-प्रतिसमर्थं
 प्रतिशर्म इत्यन्-हीयमानः मभ्यजनानां शुभमावस्याजुमावाः-प्रमाचो यस्यां सा । अर्थं
 त्रिभुत् उग्रप्रह्व ।

जिनसिद्धान्तोक्ताष्टाशीतिप्रहमभ्यात् त्रिभुतः पूरणो मकराक्षिः, कथम्भूतो मस्म-
 राक्षिः ? ख-ख-नखमितिर्षस्तिथिः “पथानुपूर्व्या अंकरधना ज्ञातव्या” । खं-
 श्रुयं, तत्पथात् पुनः खं-श्रुयं, एत् पथाभस्त्वं-विद्यतेरंकाः एतावत् (२०००)
 स्थितिः । अन्त्यदशममाभ्यं च अर्षयसपूजाऽनापारप्रतिपादकमाभ्यं च तस्मात् दुष्पमा
 च तैरेव-मर्षिणीमस्मराक्षिदशमाभ्यं समा तस्मात् दुष्पमा दुःखकारिणी, तस्यै
 जिनमतहतये-जिनमार्गोऽन्तेऽनिमित्तं यद्येते तुष्टास्तदा जैनमार्गो दुर्लभ इत्यर्थः ॥ ३० ॥

एव सावदशादशवृक्षैः प्रबन्धेन लिङ्गिनां भ्रुतपथावज्ञा प्रतिपादिता । सम्प्रति
 ‘गुणद्वेषी’रिति द्वारं निराह्वयस्तेषां गुणद्वेष दर्शयन्नाह—

सम्यग्मार्गपुपः प्रज्ञान्त्ववपुपः प्रीत्योहसम्पुपः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—‘सम्यग्मार्गपुपः०’ ॥ उद्यवरूपः—प्रचण्डक्रोधाः सस्ताधून्
सुविहितयतीन् न धाम्यन्ति—न सहन्ते । किञ्चिच्छिष्टान् सस्ताधून् ? सम्यग्मार्गपुपः—
ज्ञानादित्रयस्य मोक्षपथो[स्य]विस्तारकान् सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र्यपथ,
पोषकान् । पुनः किञ्चिच्छिष्टान् ? प्रधानत्वपुपः—रागद्वेषादिरहितधरीरयुक्तान् । पुनः
किञ्चिच्छिष्टान् ? प्रीत्योहसम्पुपः—प्रसन्नोत्फुल्लनयनान् सर्वत्र सदयाबलोकिन इत्यर्थः ।
पुनः किञ्चिच्छिष्टान् ? भ्रामण्याद्विद्वेषेभ्युपः—यत्रमहाप्रवसम्पत्ति आसद्युपः—यत्रमहाव्रतानि—
प्राणातिपात-शुभावादा-दत्तादान-मैथुन-परिग्रहाणां त्यागस्त्व सम्पत्ति उपगतानि—
इत्यर्थः । पुनः किम्भूतान् ? अयम्पुपः—निरहङ्कारिणः । पुनः किम्भूतान् ? कन्दर्पकथ
पुपः—ममपञ्चकृतणदाहिनः । पुनः किम्भूतान् ? सिद्धान्ताच्चरिणो तस्युपः—भिनोक्त
सम्यग्मार्गे स्थितान् तत्परानित्यर्थः । पुनः किम्भूतान् ? छमस्युपः—श्रान्तियुक्तान् पुनः
किम्भूतान् ? सस्पृज्यतां अग्न्युपः—विषेकजनाराभ्यस्व प्रापितान् । एव गुणविच्छिष्टानपि
सद्यतीन् उद्यवरूपः—प्रबलक्रोधाः न धाम्यति— न सहन्ते इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

देवीयत्पुठरोपिणः अथमहादोषानदेवीपति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—‘देवीयत्पु०’ ‘अहो’ इत्याक्षर्ये अनो-लोकः अगुणाग्रथ
अगुण्यमन्धारं स्व-आत्मानं कृतार्थीपति-कृतार्थमिवाचरति-आत्मानं विहितसकल-
कर्तव्यमिवाचरति, कथम्भूतो अनः ? मिथ्यात्वग्रहितः—प्रबलमिथ्यात्वगम्भीरः प्रब
ण्डमिथ्यात्वामिनिवृत्तग्रहीतः । पुनः किं करोति ? उरुदोषिणः—प्रचुरापरधान् देवी
पति-देवानिवाचरति, ये प्रबलदोषास्तान् । देवान्—भिनसदृष्टान् मन्यत इत्यर्थः । पुनः
किं करोति ? अथमहादोषान् प्रबलप्रचुरापरधान् अदेवीपति-अदेवान् इवाचरति ।
पुनः किं करोति ? मूर्खस्यनिबह-महामूर्खसमूहं सर्वज्ञीपति-सर्वज्ञमिवाचरति ।
पुनः किं करोति ? तस्मिन् अज्ञीपति-पद्दर्शनवेषारं मूर्खमिवाचरति । पुनः किं
करोति ? वेनमार्गम् स-मार्गीपति-कुमार्गीमिवाचरति । पुनः किं करोति ? अपर्य-अ
मार्गं सम्यक्-पथीपति-सन्मार्गीमिवाचरति । एतावता सर्वमेव विपरीताचरन्माचरती
त्यर्थः ॥ ३२ ॥

ये केचन दुष्टपतिनो मुक्तमिवात्मानं म-पन्ते तान् दुपपितुमाह—

सहस्राहृतवैसङ्कटपतितस्याम्बस्तरां ताम्बत ॥ ३३ ॥

व्याख्या—‘सहस्राहृ०’ अन्तुहरिमन्त्रावस्य कृती मोक्षः ? अन्तव एव

हरिणा, तेषां समूहस्य कुतो मोक्षः—कुतो निर्वाणम् ? कथम्भूतस्य अन्तु हरिणमातस्य ? सङ्ख्याघनस्य उच्छ्वस्र प्रज्ञापकः स्वच्छन्दचारी विषयलोचुषः साधु-साध्वी-भावक भाविकासमवायो भूयानिह सङ्घ उच्यते, स एव व्याघ्रः, यथा व्याघ्रा यत्रस्य हरिण मातस्य मोक्षः च्छुटनं न भवति तथैवेति । पुनः कथम्भूतस्य ? सङ्घत्रा-भावकलोकेन कृतचैत्यकूटपतितस्य मत्स्या तदायची कृतानि भिनगुहाणि, एतान्येव कूटाः मृगबंधन-पन्त्रविशेषास्तेषु प्रतिबद्धस्य । पुनः किं विश्लिष्टस्य ? अन्तस्तरां चेतोमर्मणि ताम्पतः स्त्रियमानस्य मृगोऽपि बद्धः सन् चेतोमर्मण्यतितरां स्त्रियति पुनः किं विश्लिष्टस्य ? समुद्रादुदपाक्षबन्धनवतः सन्-तस्य सङ्घस्य मुद्रा चतुर्दश्यादिपर्वतिषयस्ता एव एव पाक्षाः, तेषां धन, तदुप्युक्तस्य । अत एव स्पन्दितु-चलितु अपि न छक्तस्य-न समर्षस्य । पुनः कथम्भूतस्य मृग्यै-मोक्षार्थं करिष्यतदानश्लोचयसः-विहितदेशधारिषान्धना देरपि । एतत्क्रमस्थापिनः-एतस्य-सङ्घस्य क्रमो-रात्रिस्राप्रादिका परिपाटी तदुच्यतेः । एतावद्-बन्धनयुक्तस्य तत्रापि संपसाद्दूलवद्धस्य अन्तु-हरिणमातस्य कुतो मोक्ष ? न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

इत्थ मिथ्यापथकथनया तथ्ययाऽपीह कथित् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—‘इत्थ मिथ्या०’ ॥ इह-लोक इद अनुचितं-अयोग्य कथि-मा ज्ञासीत् । इद निनबल्लभे-नोक्त संपपञ्चारुप अनुभिमिति मा कथिचन्मस्त कथा ? इत्थ-पूर्वोक्तप्रकारण मिथ्यापथकथनया-दिगम्बरोक्तमिथ्यापथप्रकथनया । कथम्भूतया ? तथ्ययापि-सत्ययापि । अयानन्तरं कथिन् मा कुपत्-मा क्रोधं कार्षीत् । अथ यद्येवं मिथ्यापथकथनन परेषां क्रोधसङ्घा तदासौ न कथनीय एवेत्याह-‘यस्मा’दिति यस्मात् कारणादतत् किमपि दिग्मात्र कथया-अनुकथया करितं-सकृत-अल्पितं च-अतिशयेनोक्तं च । किं कृत्वा ? नृन्-मानवान् प्रेक्ष्य-अबलोक्य । कथम्भूतान् नृन् ? जैनभ्रान्त्या-‘अथ जैनमार्गः’ इति मिथ्याज्ञानेन कुपथपतितान्-कुमार्गप्रस्थितान् कस्मै कल्पित ? तत्प्रमोहापोहाय-तेषां नृणां प्रचण्डमोहनाशाय । यथाऽमी मूढाः कुपथ स्वरूप विद्याय तत्परित्यागेन सत्यर्थे गृहीत्वा संसारसागरं तरिष्यन्तीति कुपया अल्पितमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

किमपि दिग्मात्र अल्पितम् ? इति कथमुक्त यावता सकलमेव कथ नोक्त—मिति-अतः माह—

प्रान्तेऽनन्तकाशान् कस्मिन्नभिच्छये नाम नपथ्यताऽहन् ॥ ३५ ॥

व्याख्या—प्रोद्भूत० यः कश्चित् नृप-मनुष्येषु कुबोधं निरसिसिपु सन् कुवेष
 नोत्पादित दूरीकर्तुमनाः सन् दुरध्व-कुमार्गे दोषसंख्यां विवक्षेत्-‘ कुमार्गे एतावत्-
 संख्या को दोषः ’ इति वक्तुमिच्छेत् स पुमान् बम्भोऽम्भोषेः प्रमित्सेत्-प्रमातुमिच्छेत् ।
 वेति पदान्तरं सकलगतानोल्लङ्घन विवक्षेत्-सकलाकाशस्यातिक्रमणमिच्छेत् । योऽम्भोऽ
 म्भोषेरवमाहृत, यच्च समस्तगनस्योल्लङ्घन करोति सकुमार्गे दोषसंख्यां वदति, अतो
 दिग्मात्र अल्पवमिर्युक्तं, तस्मात् कुबोधं निरसिसिपुः कारुण्यात्-‘ माऽमी संसारसागर
 सुदन्तु ’ इति कृपातः कथम्भूते दुरध्वे ? अनन्तकालात् प्रोद्भूत-अनन्तवर्षमाशादिहेतुना
 संजाते, कलमलनिलये-दुःस्वमहापातकनिवास । पुनः कथम्भूते ? नाम नेपथ्यतः-
 नाममात्राचरन्तः अर्ह-मार्गान्ति-सापित्रकमिनमार्गशाब्दय दधाने-विभाषे । पुनः
 किम्भूते दुरध्वे ? तन्वतः-परमार्थतः तदभिमरे-अर्ह-मार्गपातक यथा अभिमराः प्रच्छन्न
 पातकाः स्ववेपथ रात्रदिक इत्युमशक्तबन्तो वेपपरिवर्चन कृत्वा राजादिक निम्न-ती तथा-
 एतेऽपि गृहस्पवेपथार्ह-मार्गोच्छेद कर्तुमपारयतो यति-वेपथोच्छेदयन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

म सावधानावा म बहुश-कुशीलोचितवति, ॥ ३६ ॥

व्याख्या—तथा ‘ न सावधाना ’ इह-प्रवचन एते यतय-सावधः अद्यापि दुःपमा
 कालेऽपि स्रवरतयः स्युः-सिद्धान्ताभ्ययनाभ्यापन-भ्यासपान-प्रवणपरायणाः मधेयुः ।
 किम्भूता ! येन सावधानायाः न सपापसंप्रदायाः । पुनः किम्भूताः ? न बहुशकुशीलो
 चित यति-क्रियाशुक्लाः बहुशं श्रवणमतिचारेण समल प्रक्रमाचारित्र, तथा कृत्स्नतं चरन्
 येषां, तेपाशुविता-योग्या[क्रिया]शासु-सामाचारी तथा न युक्ता-न सहिताः, कृत्स्नतयति
 क्रियारहिता इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टाः ? मद्ममताजीवनभयैः-न युक्ताः-जात्यादि
 मद्ममता-गृहस्थादिषु जीविकानिर्वाहस्तस्माद् मय येषां ते तादृशा न । पुनः किं
 विशिष्टाः ? न सकलेशवेशा-न रौद्राभ्यवसायोत्कर्षाः, पुनः किं भूता ‘ न कश्चि
 निवेशाः ’ न कृत्स्नतमानसा ग्रहवन्ताः, पुनः कथं भूता ? न कपटप्रियाः न माया
 बहुमाः, एतावता दुःपमाकालप्रमाणाद् अ-यत्कर्तुमपारयत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

संविद्याः सोपदेशाः सुतनिकपविषः क्षेत्र-काञ्चनपञ्चा ॥ ३७ ॥

व्याख्या—‘ संविद्याः सो० ’ अस्मिन्-विनशासने सत्सावधः-सुविहित
 सुनयः वन्याः । किंविशिष्टाः सत्सावधः ? संविद्याः-निर्वायेच्छवः । पुनः किंविशिष्टाः ?

सोपदेशाः-धर्मोपदेशतत्पराः । पुनः किञ्चिद्विष्टाः ! भुतनिरूपविदः-शास्त्ररहस्य निष्ठाः । पुनः किम्भूताः क्षेत्रकालापेक्षानुष्ठानाः-देशकालानुसारेण विहारादिक्रियारम्भिनः । पुनः किञ्चिद्विष्टाः ? शूद्रमार्गप्रकटनपटवः-पथार्थभ्रुतपथप्रकाशनदक्षा पथार्थमेव प्राप्त पथ प्रकाशयन्तीत्यर्थः । पुनः किञ्चिद्विष्टाः ? प्रास्तमिथ्याप्रवादाः-द्वीकृतमिथ्या श्लाघोक्तयः । पुनः किम्भूताः ? नियमममदमेत्यादि-नियमो-द्रव्याद्यग्रहः, धमः-कषायनिग्रहः, -वम-इन्द्रियवमनं औषित्य-सर्वत्र योग्यतानुसारेण विनयादि प्रयोक्तृत्वं, गाम्भीर्यं-अलक्ष्यदर्पादिविकारत्वं, धैर्यं-विपरसु अपि अविस्त्रिभस्व चेतसोऽवैक्यम्, स्वैर्यं-विचार्य करणीयकारित्व, औदार्यं विनयादिनाऽप्यापनवितरण, आर्यवर्षा-सत्यरूपक्रमप्रवृत्तिता, विनय-अभ्युत्थानादिना गुरुषु प्रतिपत्तिः, नयो-लोक लोकोत्तराविकृष्टवर्तित्व, दया-कुम्भितादिवर्षना[दा]र्हन्त [करणत्व] इति दास्य धर्मक्रियासु नालस्य, दाक्षिण्य सरलचित्ता, सतो इन्द्रसमासः, एमिर्गुणैः पुण्याः पवित्राः । ईदृशाः साधनो बन्द्नीया इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

सांप्रत प्रकरणकारः प्रकरणं समाप्नुवन्-इष्टदेवता-व्याजेनावसानमङ्गल, स चार्थं चक्रबन्धेन स्वनामधेयमाधिर्विमात्रयितुमाह-

विभ्राक्षिण्युमगर्भमस्मरमनासाव भुतोच्छ्वने ॥ ३८ ॥

व्याख्या-अहं विनं बन्धे-तीर्थद्वारं नमस्करोमि । किम्भूत ? विभ्राक्षिण्यु-अत्यन्तं विराजमानम् । पुनः किम्भूत ? अगर्वं गर्भं रक्षित । पुनः किम्भूत ? अस्मरं-भित्तकन्वर्षं । पुनः किम्भूत ? अनामादम्-अवमन्त्रशाश्वत्यम् । पुनः किम्भूत ? भुतोच्छ्वने सद्गुणानुमर्षि-श्लाघोच्छ्वने केवलज्ञानधर्म्यं । पुनः क्वम्भूत ? वरवपुः पीषन्द्रिकामेश्वरं-भेष्टशरीर-कार्तिक-कौमुदीनध्वनाप, पुनः किम्भूत ? वष्यं-स्तुत्य, कथम् ? अनेकधा-पहुषा, कै ? असुर नरैः-देश्यमनुजैः, न कवलदैत्यमनुष्यैः श्रुणुष्व-इन्द्रेण च । पुनः क्वम्भूत ? एनच्छिद-पापछत्तारं । पुनः क्वम्भूत ? त्रिदुषां-पण्डितानां वम्मार्ति-पापण्डितं पुनः क्वम्भूत ? सदा-सर्षदा एकान्तरङ्गप्रदं, केन ? सुवचसा-मपुरगिरा सदसभित्यादिरूपतया अनेकान्त रङ्गप्रदातारम् । अत्र श्लोक सपरत्नन चक्रवच उद्गुमावनीयः ॥ ३८ ॥ चक्रमिदमासकम् ॥

जिनपतिमवतुषे कालतः साधुवेषैः, ॥ ३९ ॥

व्याख्या-‘जिनपतिमवतुषे’ अधुना-इदानीं तैर्विषयिभिः इयं स्यगच्छ-स्थितिः मप्रथि विस्तारिता । कस्मै ? स्वार्थसिद्धयै-निमकार्यनिष्पत्तय, कथं स्ववच

मनश्चानां मूलेष आत्माऽऽयची कृता ये मूलत्रनाः तेषां चपनाय मूलेष-निगड
 इव । कस्मिन् सति ? साधुवेषैः-पूर्तैः धिनपतिमतदुर्गे-अईच्छामनप्राकारे अमिभूते
 सति, अईच्छासनमेव दुर्गे प्राकारः "कोट" इति भाषया तस्मिन् विषयिभिः-कामिभिः
 उपहृते सति यदा मगबच्छासनमेव दुर्गे प्रकारः पूर्तैः उपहृत तदा तैः पूर्तैः इयं गच्छ
 स्थितिः निगगच्छ-मुद्रा विस्तारितैर्यथ । कृतः अमिभूते मति ? कालतः दुःपमाकाल
 दोषात् । कैः ? मस्मकम्लेच्छसैन्यैः, यथा म्लेच्छसैन्यं कस्मिन्धिदपि दुर्गे स्वसुखबलेन
 गृहीते इत्थार्थं तदन्तर्षिनागरिक्लोकबधनाय मूला प्रसारयति च तथा छिन्नितः
 स्वकार्यार्थं मूलत्रनबधनाय गच्छस्थितिं प्रसारितवन्त इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

संप्रत्यप्रतिमे कृतवपुषि प्रोक्त्वमिते भस्मक ॥ ४० ॥

व्याख्या 'संप्रत्य-प्रतिमे ०' ॥ इत्य-अमुना प्रकारेण लोकैः वयं कल्प्यामहे-
 उपहस्यामहे । कया ? सदागमस्य कषयापि-शुद्धसिद्धान्तधर्मस्य देशनाविचारमात्रे
 णापि । किं कृत्वा ? एकीभूय-एकमतं कृत्वा । कथमभूते लोकैः ? तदाज्ञापैः-मोह
 रात्राज्ञापैः । कस्मिन् सति ? मोहरात्रकण्ठके प्रौढिं जगुषि सति, कोऽर्थः ? मिथ्याज्ञान
 रामसैन्ये प्रौढतां याति सति । न केवलं मोहरात्रकण्ठके प्रौढिं जगुषि सति प्रागुक्तकुसङ्ग
 क्षरीरे प्रोक्त्वमिते सति-अभ्युपगते सति, पुनः कस्मिन् सति ? दुरन्तदशमाधर्म-असं
 यतपूजालक्ष्यम्, तस्मिन् विस्फूर्ति मति । कृतवपुषि । किमभूते ? संप्रति-अधुना
 अप्रतिमे-अप्रदशे कथमभूते दशमाधर्म ? मस्मकम्लेच्छातुच्छबले-मस्मराशितुरुष्काधि
 पतिसैन्यैः-मस्मको मस्मराशितुप्रहः, स एवाईच्छासनरतानामेकभाषाविषायित्वात् म्ले
 च्छाः-तुहकास्तेषां सैन्यैः । यथा कश्चिन्महाराजाधिराजो म्लेच्छामहासामन्तैर्भूमण्डलं
 साधयति तथा अपयमपि मोहरात्रा मखकादिभिर्धिनशासनमविलङ्घयतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

वृत्तिकार-अशस्तिः ।

क क्षिन्नबलमत्सुरिसरस्वती, क च क्षिप्रोर्मम बाग्विमबोधयः ।

शुक्लबोधविमां सुबताः कसु भवपयो कुरुकात् प्रकरिष्यथ ॥ १ ॥

भीबीरदास इति भीरक्षिनेश्वरस्य, पादाच्छपूजनपरायणवित्तवृत्तिः ।

भीमानभूदमकक्षीर्विधितानकेन, येनाहृतं जगदिह कल्प्यात्मकेन ॥ २ ॥

तस्यात्मजोऽमबधनगतगुणाः समम-सम्पत्तबसंमहविर्द्धिनपुण्यराशिः ।

भीमन् इमीत् इति भीरवरः सरीरः, बाहू कर्महृत्किरनिज्ञ क्षिन्नपूजनायः ॥ ३ ॥

वसुत्रोऽतिपथित्रकर्मनिरतः सद्यथा सवेतः,
 क्वातः पौडसहायनोऽप्यरचयत् टीकां स्फुटार्थमिधाम ।
 लक्ष्मीसेन इति मसिद्धमहिमा देवान् गुरुनर्षबन्,
 श्रीपात्रीवदयापरः परपरीतापाऽर्तिहन्ता वरः ॥ ४ ॥

“ अथ समर्पना—

विमले भावणमासे, वर्षे त्रि-महियु-चन्द्र-(१५१३) खंगुणिते ।
 कृतवान् लक्ष्मीसेन,—टीकां श्रीसङ्घपट्टस्य ” ॥ ५ ॥ प्रवर्षांक ५०१ ॥

॥ इति श्रीलक्ष्मीसेनकृता श्रीसङ्घपट्टटीका सम्पूर्णा ॥

अहम् नमः ।

श्रीमिनवस्रमसूरिबिरचितः

श्रीहर्षराजोपाध्यायविहितकृष्णपुत्रियुतः

श्रीसंघपट्टकः

बन्धे शाश्वतिनि शाश्वि-कं कर्मोत्करोन्मिवम् ।

महोदयेन्द्रोदरार्, विम्रसङ्गतवधातकम् ॥ १ ॥

मित्वा तुष्कर्मैतुगौ क्षमदमबद्धतः साधिकद्वारासाध्ने-

द्वेमे शीर्षेष्टरभीः सवतिप्रयवती छीछया वेन सुभ्यः ।

मलेभ्यश्च प्रवृत्ता स सुरमपिरहो । इत्यवत्सर्वं हि सार्व-

स्तेनाई मां कुदप्य स्वचिमककमछाछकृत वर्तमानः ॥ २ ॥

मिनवस्रमसूरी, कृतः श्रीसंघपट्टकः । तद् व्याख्यामस्वपी कुर्वे, वृहद्दीक्षाञ्जुसारथः ॥३३

व्याख्या—अथ 'संघपट्ट[क]' इति कः शब्दार्थः?, उच्यते—'संघस्य'

ज्ञानादिगुणसमुदायरूपस्य—साध्यादेवतुर्विधस्य 'पट्टको' व्यवस्थापत्रं, यथा
राजादयः स्वनियोगिभ्यो व्यवस्थापत्रं प्रयच्छन्ति 'अनया व्यवस्थाया युष्मामिर्ष्य
वर्षस्य'—मिति, एवमिहापि साक्षाद्विषयदोषदर्शनद्वारेण स्वपक्षसुसंघस्य व्यवस्था
पक्ष्यमाया वर्षस्य इति संघपट्टकः । तत्रादि-इत्यम्—

वद्विष्णाछावछीढ कुवचमयनपीर्माद्वुरस्तोककोः ॥ १ ॥

व्याख्या—'स्तुमः' प्रथुमा, अस्मत् प-प्रयुज्यमानेऽप्युचमपुरुषप्रयोगकथना

द्वयमिति कर्तृपदं स्वपमिह क्षेत्रं, क? क्षेत्रं, दीक्ष्यते—स्तुपते शक्रादिमिरिति देव; स चात्र
प्रकरणात्—अविष्टदेवतात्वेन स्ववार्हत्वाजिनः, सोऽपीह कमठसपोद्वृष्टतास्पटनलक्षणा
साधारणविशेष[ण]योगात्पार्यनायः । तं देव स्तुमः, यो'अगादेव' प्रतिपादयामासेव ।
इव शब्दो[ऽत्र ठ]प्रेक्षाघोतकः । किं? इति तदेवाह—विधुरमित्यादि । 'प्राज्ञैः' प्रेक्षावद्विः
'कार्यं' विधेय 'कृपयस्वसनं' सर्वसामर्थ्येन पूर्वापराऽत्रिसंबादिशास्त्रविरुद्धमतनिराकरण ।

किं कृत्वा ! 'प्रपद्य' अङ्गीकृत्य, किं ? 'विधुरमपि—अयसनमपि । अपिः सम्भावने, एतत्सम्भावयति सति सामर्थ्ये स्वापायशङ्कया कुपयस्त्वलनाऽवधीर्यं त्वनन्तजीवसंसार कारणत्वेन महतेऽनर्थापिति । कस्य विधुरं ? 'स्वस्य' आत्मनः कर्म ? सद्यस्तद्वृत्तात् । किलेरयासुवादे । कस्मादेव अगादेव ? इत्यत आह—काठण्यामृतादिः—'कथमयं अनो मया कुमार्यपयादुद्धरणीयः' इति कृपापीयूषसागरो मगवान् । नहि लोककृपां विना कथिस्त्वकष्टमङ्गीकरोति । किं कुर्वाण एव अगादेव ? इत्यत आह—'स्पष्टयन्' प्रकृती कृषन्, किं ? कमठसुनितपः—कमठामिषान—लौकिक—तपस्वि—पञ्चाभिरूप—कृष्णानुहाता 'दुष्टं' प्राणिवच—ज्ञान—पूजा—स्वातिकामनादिदोषगुणं । कथं दुष्ट ? उचैरतिष्ठयेन । किं कृत्वा ! 'सन्दर्श्य' दर्शयित्वा, क ? 'नाग' पञ्चाग्नितपोनिमित्तव्यतिताग्निहृष्टान्तर्बर्षि काष्ठकोटरमभ्यगं सुमहत् । किं विशिष्ट ? 'वह्निन्वालाबलीहं' निरन्तरं प्रव्यलहृष्टिन्वाला-भ्यास भर्तृदग्धमिति यावत् । क ? 'अग्ने' पुरतः, कस्याः ? 'मातुः' स्वप्ननन्याः, न केवलं मातुः, तथा समस्तलोकस्य । कस्मात्सकलजनमध्ये मगवांस्तत्तपस्तिरथकार ? पतः 'कुपयमचनधी' असन्मार्गोच्छेददधः । एव ज्ञानबल—ज्ञातकमठविधास्यमानबलवत् धारासम्पातादिस्वापायाम्युपममेनापि कमठतपसो दुष्टत्वं स्पष्टयताऽपदिदत्प्रत्यपादि-पत् मद् बद् भवत्किरपि कुमार्यस्त्वसनं स्वकटाङ्गीकारेणापि कार्यमिति वृत्तार्थः ॥ १ ॥

तदेवमिष्टदेवतास्त्वममिषाय—इदानीं सङ्घम्बवस्वोपदेशतर्भं कथनीयं, तच्च योग्यपुण्यस्य प्रतिपाद्यमान साकश्यमासादयेत्, तेनोपदेशरहस्यमजनयोग्य भोतारं निरूपयितुमाह—

कस्याजामिनिवेशानिति गुणमाहीति मिथ्यापच ॥ २ ॥

अप्याक्या—'उच्यसे' उपदिश्यसे, त्वमिति शुभमवो भोतनिर्देशः, मयेति कर्तुरात्मनिर्देशः । ततश्च भोः भोतः । मया त्वं सङ्घम्बवस्व्या प्रतिपाद्यसे इत्यर्थः । कस्माद् ? इत्याह—करणाजामिनिवेशानिति । इति शब्दा अत्र सर्वेऽपि हेत्वर्थाः । करणाजः—शुभोऽभिनिवेशः—आह्वयः, सद्ब्रह्म इत्यर्थः, तत्रान्, सद्ब्रह्मिणो हि सत्पुपदेश रत्नभबधे परमानन्दः समुल्लसति ? । तथा गुणमाहीति—अस्पीयसोऽपि गुणस्य प्रहण प्रबन्धः, दोषैक्यादिभो हि अविद्यमानेऽपि दोषे तद्ब्रह्मकस्त्वमेव स्वात् २ । तथा मिथ्या पचप्रत्यर्थाति, मिथ्यापयो वक्ष्यमाणो पयाच्छन्दप्रकृपितोत्सन्नमार्गः तस्य 'प्रत्यर्था' विरोधी, उत्सन्नमार्गं भोतुमन्वनिच्छति, उत्सन्नपचामिच्छापुकस्य पचार्थसिद्धान्तोपदेशकासाय स्वात् ३ । तथा विनीत इति गुर्वादिष्वन्मुरपानादि करणकालसः, विनीतायेव

गुरवाः सिद्धान्ततत्त्व कथयन्ति ४ । तथा अक्षय इति-ऋतुस्वभावः, गुर्वादिषु वीचिका (निहिः ति) निरपक्षप्रवृत्तिरित्यर्थः, छठो हि न द्विषायोग्यः ५ । तथा औचित्यकारीति च लाभागमाविरोधेन गुर्वादिषु यमानुरूप विनयादिप्रवृत्तिरौचित्य, सरकरणशीलः, औचित्य-हीनस्य श्लेषगुणाः सन्तोऽपि काञ्चकुसुममङ्गामाः ६ । तथा दाक्षिण्यीति, दाक्षिण्य-मनुकूलता-अनविद्यानुवर्तिस्व, तद्वान्, निर्दाक्षिण्यो हि ब-धूनामप्युदेगकृत् ७ । तथा दमिति-अत्रितेन्द्रियः, अत्रितेन्द्रियो हि गुरुसवायामपि मन्दायत ८ । तथा नीतिभृदिति-सदाचारपरायणः, तद्वतो हि सर्वेऽपि साहाय्य मवन्ते [संदर्भे] ९ । तथा स्वैर्यीति, स्वैर्य-कार्यारम्भेऽनौत्सुक्य, तद्वान्, उत्सुका हि रामभ्यन कार्यमारममाभाः आस्तारमप्युदेमयन्ति १० । तथा चर्यीति, चैर्यी-आपस्ववपि मनसोऽश्रोम्यस्व तद्वान्, अधीरोऽपि विघ्नाकुलित चैता गुरुमपि हीलयति ११ । तथा सद्वर्माचीति, स [त्] न् (?) -श्रोमनो धर्मो लोकप्रवाहरहित आह्वानुगतः शुद्धो मार्गः तस्यार्थी-गवेषकः १२ । तथा विवेकवा निति, पारिणामिक्या बुद्ध्या युक्तायुक्तविमर्शो विवेकः, तद्वान् १३ । तथा सुधीरिति, सुधीः-प्राज्ञः, अद्य हि वक्ताऽपि गुरुर्न किञ्चित्संस्कारमाभातुमिष्टे १४ । तद्व पूर्वोक्त सकलगुणग्रामसम्पन्नः स्व मोः भोतः, ततो मयोपदेशसर्वस्व भाग्यस इति वृत्तार्थः ॥२॥

इदानीं योग्यभोतारं प्रति यद्वक्तव्यं तत्प्रस्तावनामारवयितुं वृत्तद्वयमाह—

इह किञ्च कलिकाठम्याठवकत्रान्तराठ ॥ ३ ॥

मोत्सर्वं भूस्मराक्षिप्रहसकवक्षमाद्यैस्ताप्राभ्यपुष्पम् ॥ ४ ॥

व्याख्या—एव विधे प्राथिवर्गे सति साधुवैः सोऽयं 'पन्थाः' मार्गः अप्रायीति सम्बन्धः । 'अतानि' विस्तारिता, कोऽसौ ? 'पन्थाः' श्वेच्छाकल्पितं मतं 'स' इति सकलअनप्रसिद्धः 'अयं'मिति इदानीं प्रत्ययोपलक्ष्यमाणः । क्वमप्राथि ? 'अमितः' समन्ताद् भूरिदेशित्यर्थः । कैः ? साधुवैः, साधोः सुविहितस्यैव यपो-रक्षोहरणादि नपच्यं, न स्वाचारो, येषां ते तथति, स-सुनिलिङ्गमात्रचारिमिः । कुत एतदित्याह-विपयिमिः, विपयवन्ति-सत्तारगुप्तौ वचन्ति भासेविन प्राणिनमिति विपयाः-शब्दादयः तद्वन्निः, विपयासङ्गो हि यतीनां शीघ्रया विरुध्यते । किंरूपः पन्थाः ? [विनोक्तिप्रत्यर्थी] विनानामुक्ति-वचनमागमः तस्य 'प्रत्यर्थी' विरोधी । कस्मादेवं विधः पन्थाः प्रविशस्तैः सङ्घट्टित्यादि, सङ्घट्टिता-सातत्यन धार्मिकअनोपतापकर्त्ता रौद्राप्य वसायवान्, द्विष्टो-मरसरी-गुणवद् गुणव्यसनप्रगुणबुद्धिः मूढो-इयोपादेयविमर्शशून्यः, प्रसक्तः-प्रकर्षेण विद्युनः गुणवद् गुणासङ्गोरोपवधतुरः, अढो-दुर्मेधा यो मन-स्तवामेव

चतुर्विधः स सङ्गस्वरूपान्नायः—शिष्यप्रशिक्ष्यादिसन्तानः तत्र रक्ताः—प्रीतिमन्तः, यद्वा
सङ्कष्टादिविशेषणोपेतो अनो नाम सुविहितसङ्गतस्याम्नायो गुरुधारम्पर्यागतभ्रुतविकृष्टा-
चारणा, तत्र रक्ताः—पञ्चपातिनस्तैः, न हि स्वगदहृज्जनाचरितं प्रामाण्येन प्रतिपद्यन्ते,
अत एव एवविधा विनोक्तप्रत्यर्चिनमेव मार्गं प्रथयन्ति । अथ दीप्यमाने सूर्ये इव
पारमेश्वरे पयि कृत एव प्रथमस्य तमस इवावकाशस्तत्राह—‘अगति’ लोके ‘विरलता’
स्तोकरता—अस्यचनाम्युपगमनीयता ‘याति’ प्राप्नुवति सति । कस्मिन् ? जैनेन्द्रमार्गे-
मगवत्प्रणीते शूद्रे प्रतिभोतसि पयि । कस्मादेतत् ? इत्यत आह—प्रोत्सर्पदित्वादि,
प्रोत्सर्पत्—भीषीरमुक्तिप्रथमं तज्जन्मराशिप्रकृत्या तत्पञ्चसङ्घस्य बाधाविधावित्वात्
प्रोत्सर्पत्—मस्मराशिनामा—मङ्गलादिवत् कूरग्रहस्तस्य ‘सत्ता’ मित्र, राजादित्वात् ।
ततश्च प्रोत्सर्पत्—मस्मराशिग्रहमखं यद्भ्रमाभ्यर्थम्—अस्यतत्पञ्चसङ्घं । अत्र च सस्य मस्म-
राशिद्वेषमाभ्यर्थयोलौकिकसत्त्वोरिव द्वयोरपि साहचर्येण दुष्कृ[एकका]र्षकारित्वं यथा-
छन्दःप्रावश्यकारित्वेन मिथ्यात्मपोषस्तस्य साम्राज्यमिदं, साम्राज्यं यथा राज्ञः कस्यचित्
सकल—मङ्गलाधिपत्यं [रिपुभिः] प्रयपुरस्सरमाह्वयं साम्राज्यमुच्यते, एवमिहापि सुविहित
अन—तिरस्कारेण सकलसोकस्मात्संपतजनवधवर्षित्वं दक्षमाभ्यर्थस्य साम्राज्यं, तेन ‘पुण्यं’
एवमान—वर्द्धमानं ‘मिथ्यात्व’ अतस्त्वे तत्प्रतिपत्तिरूपं, तदेव ‘प्वान्त’ जन्मकारं,
सम्यग्ज्ञानाबलोकन—निरामयमत्वात्, तेन ‘शूद्रे’ व्याप्ते जैनेन्द्रमार्गे । अथ क सति जैने
न्द्रमार्गे । मिथ्यात्व[प्वान्त]रुद्धत्वादिरलतां प्राप्ते ? इत्याह—इह किलेत्यादि इह—अगति,
किल—सुखार्थस्तत्रे बह्यत, प्राणिवर्गे—मानवसमुदाये सति । किं रूपे ? लोकोक्त्वा कलि
कालो विनोक्त्वा दुःपमाकालस्तेन, कलिकाल एव—दुःपमाकाल एव निमित्तानाचार
परलनिलयस्याद् व्यालः—सर्पस्तस्य ‘बकत्रान्तराल’ बदनमप्य, तत्र स्थिति’ अबस्थान
‘सुपत’ सबत यः तस्मिन् । अत एव तत्रेषु मगवत्प्रणीतेषु बीषावीवादिषु ‘प्रीतिः’ एतान्येव
वास्तवानि तत्रानि, न तु कृतीर्षिकप्रणीतानि, [इति] येतसः प्रमोदः । तथा ‘नीते’
न्यायस्य—सदाचारस्य ‘प्रचारः’ प्रवृत्तिः । ततश्च गतौ—पयाक्रम कुर्वन्नाम्नास—दुर्वि
दग्धत्वेन प्रमादाक्रान्तत्वेन च मष्टौ [तत्त्व]प्रीति—नीति—प्रचारी यस्य स तथा, तस्मिन् ।
तथा, ‘प्रसरत्’ तथाविधगुरुसम्प्रदायामाभात्—प्रादुर्भवत् ‘जनवदोषः’ सम्यक्-
सिद्धान्तार्थपरिज्ञान, तेन परिस्फुरन्तः कापयानां ‘ओषाः’ समूहास्तैः ‘स्वगितः’
तिरस्कृतः सुमतेरपवर्गलघुजायाः ‘सर्गो’ निष्पत्तिर्यस्य स तथा, तस्मिन् । ‘सम्प्रति’
इदानी । किलेति सम्भाषणे, सम्भाष्यते एतत् यत्कलिकालानुमायात् सम्प्रत्येवविधे
प्राणिवर्ग इति वृत्तद्वयार्थः ॥ ३-४ ॥

इदानीं योग्यद्योतुरग्रे साधुषेपकल्पिते पथि दक्षमिर्द्धारैः तत्प्रकल्पितं धर्मं कथयन्
तस्य च कर्मनिर्पूर्लूनक्षमत्वमसम्भाषयन् इदमाह—

यत्रौदक्षिकमोक्षेन जिनगृहे बाधो वसत्यधर्मा ॥ ५ ॥

व्याख्या—अत्र पथि अथ धर्मः—चेत्कर्महरो मवेत् तदा मेरुत्तौ तरेदिति
सम्पन्नः। 'अत्र' अस्मिन् प्रत्यक्षोपलभ्यमाने 'पथि' मार्गे—लिङ्गिकल्पिते मते धर्म
औदक्षिकमोक्षनादिः, अथ 'चेत्' यदि 'कर्महरो' ज्ञानावर्णादिभ्यंसदक्षो 'मवेत्'
स्यात् तदानीं मेरुर्लक्ष्ययोजनमानः—पर्यवसानः 'अर्धौ' सागरे तरेत्। अथ च 'निर्दुर्षणा
लङ्कारः—उत्तमायमर्थः—समुद्रे पापाणस्त्रयस्य तरणमसम्भवि किं पुनर्मरोः ? ततो यथा
मरोः समुद्रतरणमघटमान एवमस्य धर्मस्य कर्महरत्वमिति। 'यत्र' यस्मिन्पथि, किं ?
यतीनामौदक्षिकमोक्षनादिर्धर्म इत्यत इति सर्वत्र क्रियाऽप्याहारः। तथा 'तदेक्षेण'
विकल्पेन—यतीन्मानसि कृत्वा निवृत्त—निष्पादित औदक्षिक। क्रीतादिकत्वाद्—इच्छन्।
तच्च तन्मोक्षेन चाक्षनादि। यद्यपि सिद्धान्ते औदक्षिकस्य उदूगमदोषद्वितीयमेवार्थः
भूयते, तथापीह वक्ष्यमाणवृत्तार्थपर्यालोचनेन आधाकर्मणि वर्धते, तस्यैवेह केवल
पतिनिमित्त विधीयमानत्वेन महादोषतया विवक्षितत्वात्, उद्वृत्तनिवृत्तस्य च सामान्य
स्पृश्यपर्यस्योमयश्रापि समानत्वात्। अत्र यतीनामौदक्षिकमोक्षेन ग्रहणे यथासन्दा
युक्तिं दर्शयन्ति—पूर्वं हि बहवोऽत्यन्तं दानभद्रालवः भ्रात्रा अभूवन्, तेन यतीनां
प्रासुक्येपणीयेनापि भैक्ष्येषु निराबाध निर्बाहोऽभूत्, इदानीं दुष्पमाकालदोषात् दरिद्रता
मत्पतां च गच्छन्तु प्रादेषु ऐर्दपुगीनसुनीनां तथाविधस्यसहाननविकलानां सुद्वेन
मक्कादिना संयमनिर्बाहामाभे यदि कश्चिच्छ्रद्धालुस्तीर्थाविच्छेदमिच्छुः भ्रात्रा साधु
सहनिमित्तकृतमक्कादिनाऽपि धर्माधारं शरीरमवष्टम्भयत् तदा को दोषः ? आत्मा
च यतिना यथा कथञ्चन रक्षणीयः, तस्माद्यतीनामाधाकर्मिकमोक्षेनमदुष्ट, संयम-
शरीरोपष्टम्भकत्वात्, कस्यग्रहजन्तुमोक्षेनवदत्। तथा यतिमिराधाकर्मिकमोक्षेन विधेय,
भ्रात्रभद्रावृद्धिहेतुत्वात्, धर्मदेक्षेनवदिति प्रयोगावप्युपपद्यते २। तथा 'जिनानां'
अर्हतां गृह, तत्र 'बाधः' सर्वदाऽवस्थान। इह कश्चित्सुखशीलतपोव्रतविहार
कर्तुमशक्नुवन्तो यतीनां चेत्येव सदाऽवस्थान युक्तमिति प्रतिपेदिरे, ते चाहुः—तस्मात्
इदानीं जिनगृहवास एव साधूनां सङ्गतः प्रतिमाति, न च तत्राधाकर्मिकादयो दोषाः,
तीर्थकारार्थं कृतत्वात्। चेत्यम्—इदानीन्तनसुनीनासुपमोगयोग्य, आधाकर्मिकदोषरहित
त्वात्, सुदाहारवदित्यादि। तदेव सप्तमद्वया विमुक्ततां विदुषां विधे चेत्येषाम् एवेदा

नीन्वनमुनिनां सङ्गतिमङ्गति २ । तथा वसत्यधमेति, वसधौ-परगृहे निवासं प्रति
अधमा-मास्सयं, आधाकर्म-स्त्रीसंसखयादिवोपञ्जालरहितजिनगृहवाससामे आधाकर्मिक
वसतिवासस्य अस्यन्तमनुचितत्वात् । को ह्यु-मचः पध्याश्चनप्रासाधपध्पमभीयात्, तस्मा-
त्परगृहवसतिरसमीचिनाऽधुनातनयतीनां । यथागमे परगृहवासः भूयते स तारकासिक-
सात्त्विक यति अस्यपेक्षयेति ३ । तथा 'स्त्रीकारः' स्वायत्तापादनं, कष्टु ? इत्याह-'अर्धो'
द्रविणं 'गृहस्यः' भ्रातृः 'वैत्यसदन' विनगृह ततोऽर्थभेत्यादि द्वन्द्वः, तप्तु । तत्र द्रव्य
स्त्रीकारस्पागमे निषिद्धत्वेऽपि साम्प्रतयतीनां तस्वीकारो युक्तः, स विना ग्लान-परपक्ष
दुर्मिद्याद्यवस्थायां भेषजपध्याद्यनुपपत्तेः । प्रायेण गृहमेधिनां कालदोषाभिर्द्वन्द्वेन निर्द्व-
न्द्वेन च यतिविन्ताद्यविधानात्, तेनार्थस्त्रीकारः साम्प्रतिकमुनीनां सङ्गत इवाभातीति
४ । तथा भावकस्वीकारोऽपि अद्यतनमुनीनामुत्सर्गावषादपदविदुराणां न निर्युक्तिकः । पूर्वं
हि कालस्य सौख्यादतिशयवस्तुष्यबाहुस्याजैनमतबाह्या अपि अनाः श्वेताम्बरभिष्कुम्पः
सप्तहुमान मिथ्यादिक धितेः, साम्प्रत तु जैनमार्गवैभूस्त्वेन तेषां तथाविच श्वेताम्बर-
विस्साया अमावात, अतः भ्रातृस्वीकारं विना मिथ्याऽवाप्तेरप्यनुपपत्तेयुक्तः सम्प्रति
भ्रातृस्वीकारः ५ ॥ तथा वैत्यस्वीकारोऽपि मुनीनां समीचीनाः, सम्प्रति गृहस्थानां
वैत्यविन्तां प्रति निरपमानतया यतिस्वीकारमन्तरेण कालेन तद्व्यञ्ज सम्मवात्
मार्गलोपप्रसङ्गेन चाममे स्वर्षापण्या तस्वीकारस्याभिधानात् ६ । तथा न विद्यते
'प्रेक्षित' चक्षुपानिरीक्षण, आदिशब्दात्प्रमार्जन रजोहरणादिना यत्र तदासन विष्टरं
स्पृतगम्बिकादौ श्चिरगम्भीरसिंहासनादौ च प्रस्त्युपेक्षणादि पतीनां न ह्युच्यति, तेन च
तत्र न कल्पते उपपत्तेः । चैत्यावासिनश्चैव प्रतिपद्यन्ते-प्रबचनप्रमावनाहेतोस्तादृक्षासनो
पवेक्षणस्यापि साधियस्त्वात्, प्रबचनप्रमावनायाः प्रभानदर्शनाङ्गत्वेन यथाकथञ्चन
विधेयत्वात् । ततः सिद्धमिदं-आचार्याणां गम्बिकाद्यासनमुपादेय, प्रबचनप्रमावनाङ्ग
त्वात्, सम्मस्यादिप्रमाणश्लाघ्ययनवत् ७ । तथा 'सावधं' सपापं 'आचरित' आच-
रणा, तत्र 'आचरः' अग्रहः । आचरणा हि निरवधैव प्रमाण, एषा तु सावधा, गु[हि]
ह(?) दिग्ब-बाद्याचरणाद्यभ्युपगमे यतेस्तद्विधीयमाननिस्त्रिभयापारम्भानुमत्याद्यापत्तेः,
तथा श्लेषा चैत्यवासिमिरादृता, यतस्तेवामयमाश्रया-प्रायेण सम्प्रतितन-यतीनां गृहस्था
न्योऽन्याकृष्या कसहेनाभ्यवस्थया सर्वमसमञ्जसमापद्यते, तस्मादेवाऽन्याचरणाऽद्यतन
कालापेक्षया युक्तिमतीति ८ । तथा 'धृतस्य' सिद्धान्तस्य 'पया' मागस्वज्ञानज्ञा-
ननादरः । ते श्लेषमाहुः-मगवरिसद्धान्तो हि नैकान्तनिष्ठो, विहितानामपि केषश्चिदनु-
ष्ठानानां कश्चिन्निषेधात् निषिद्धानामपि कश्चिद्विधानात्, अतो न आस्थां कृत्वा क्वचन
सिद्धान्तव्यवस्थया किमपि कर्तुं परिहर्तुं वा पार्यते, तेनागमबहिष्ठाऽपि कश्चित्सुहृत्कार

क्रिया अद्यतनसाधुप्रवर्धिता विवेकिनां निःश्रेयसाय भविष्यति, किं ध्रुतेनेति ९ । तथा 'गुणियु' ध्यानादिबस्तु यतिषु 'द्वेषधीः' मात्सर्ग्येषुदिः, स्वय निर्गुणानां तद्गुणानसहिष्णुनां तद्गुणविधांसया द्रुष्टा मतिरिति एते च परगृहवासिनो धार्मिक मन्या आत्मानमेवैक गुणैस्कर्षयन्तो निस्त्रिहानप्यपरान् रूपयन्त ऐदयुगीन सङ्गमप्यवमन्यमानास्तत्प्रवृत्तिं हरेण परिहरन्तो लोकव्यवहारमप्यजानानाः सङ्गबाह्या एव, अतस्सर्षयैवैते उच्छेत्तव्याः, द्वेष एवैषु भेषान् १० ।

"गीतमादिषु वर्तिस्त्वा-चादशेषु वर्तिष्वभिः । कथमेतेषु वर्तेत ?, निर्गुणेष्वस्येति चेत् ? ॥१॥"
 "कल्पस्योनिर्वाहं पश्य, गुणायोनेऽपि वर्तते । मित्रादिषु तद्वचानो, विना विप्रतिपत्तितः ॥२॥"
 "यथा च ज्ञानरत्नानां, गुणामात्रेऽपि तादृशाम् । काचे साम्राज्ञौ चारचिबन्धे, मणिप्रभः प्रयुष्यते"
 "गीतमादिगुणायोने-ऽपीवासीमन्तमाधुषु । कथञ्चस्तु स्वसत्त्वैव, प्रवर्त्स्येति यतिष्वभि ॥४॥"

इति चास्त्व ध्यान्त्यादिदृष्टविधयतिषर्मस्पर्द्धयैव यथाछन्दैः प्रवृत्तितो घर्मोऽप्येत्स्पर्द्धरो भवेदित्यादि पूर्वव्याख्यातमिति वृत्तार्थः ॥ ५ ॥

इदानीमेतानि दशद्वाराणि यथाक्रमं कथयन् प्रथमं तावज्जीवोपमर्दाद्यनेकदोषप्रकटनपूर्वमीदृशिकमोक्षणद्वारं प्रत्याख्यातुमाह—

पद्कायानुपमृष्य निर्दयसुपीनाभाय वत्सावितं ॥ ६ ॥

व्याख्या—कः 'सद्युणो' इयासुर्विदन्-सङ्गादिनिमित्तमेतन्निष्पन्नमिति जानन् इहेति प्रवचने 'विपत्सति' अद्युमिच्छति ? । "अदः सनन्तस्य वसादेश्चे रूपं" । किं तत् ? 'सङ्गः' साधुसाध्वीरूपः भ्रमभ्रमणः आदिष्वभ्यादेकद्वित्रादिभ्रमणपरिग्रहः, तस्व मक्त-तत्कृते निवृत्तमद्यनादि, नापेति कृत्सायां, अतीव कृत्सितमेतत्कृत् यतीनां, जानतो मुनेः कृपालोरेव विष मर्कं भोक्तुं न कस्यत् इत्यर्थः । कथं तत्कृत्सित ? अत आह-पत्सावित, तच्छब्दस्य पच्छब्देन नित्यामित्यम्बवात्, एतच्च यत्कृत् 'सावितं' निष्पावित, गृहस्थनेति श्लेषः । किं कृत्सा ? 'आधाप' उद्दिश्य, कान् ? 'शपीन्' यतीन्, यतिभ्यो भयैतद्देषमिति विषे कृत्स्वेत्यर्थः । अथ निरवद्यद्वयया यतिनिमित्तं कृतेऽप्यस्मिन् को दोषः ? इत्याह-'उपमृष्य' विष्वस्य 'पद्कायान्' प्रविष्यसेषो वायु-वनस्पति-त्रसाख्यान् पद्द्विष्वमीवनिष्पायान् । कथमुपमृष्य ? इत्याह-निर्दयमिति क्रियाविश्लेषण । ननु भवत्वेतद्यत्यर्थं सावितं कृत्सित, तथापि सिद्धान्तानिषेधात्

दृश्यतीत्याह—‘ श्राद्धेषु ’ ग्रन्थेषु निशीषादिषु ‘ प्रतिपिष्यते ’ यतिभोजनपतया निवार्यते यद्भक्त, कथं ? असकृत्—अत्यन्तदुष्टतास्यापनाय सुदुर्मुहुः, तथा च आहारोपधि—वसत्या धाकर्मविचारामसरे निशीषेऽभिहितं—

“ एष सामन्तरं, आहारकर्म तु गिण्ण्य [मुंजइ] शोभ ।

शो भाना भजवर्य, मिच्छतविराहर्ष पावे ॥१॥ ” तथा पिण्डनिर्घुक्तावपि—

“ आकर्मं मुंजइ न पडिक्कमए व तस्म ठावरस । एमेव अटइ चोडो, छुचविछुतो अह कचोडो ॥ २ ”

दशमैकालिकनिर्घुक्तावपि—

“ वरिहकड मुंजइ छक्कावपमएणे वरं कुणइ । पवक्कं च अज्जाए, जो पीअइ कहन्तु सो साहू ? ॥३॥ ”

नन्वस्तु एवमागमनिषेधः तथापि तस्य मुनिना स्वयमकृताकारिताननुमतत्वात् वा दधानस्य तस्य मुनेः को दोषः ? इत्याह—‘ निश्चिद्वता ’ निश्च्युक्ता—निर्दपस्व ‘ आधसे ’ करोति पचपदापायि—निश्च्युक्ताकारकं यद्भक्त । अयं भाषः—स्वयमकृताद्यप्याधाकर्म आनय् गृहानो मुनिर्मक्तिमद् गृह्णिजः प्रसङ्गासङ्गनात् अत्यन्तगृह्णुनिश्च्युक्त्वेन सविचमपि न ज्ञात्, अतः कथं न दोषः ?, तदुक्तं—

“ सच तद्वि मुजतो, गिण्णतो बह्वए पसंगं से । निअंजसो च गिण्णो न मुंजइ सजिबं पि सो पच्छा ॥ १ ”

अत एव अत्यन्तम् एतत् त्रिहापयिषया गणधरा आनुरूप्येन—उपमानानि दर्शयामासुः । तथा चाह—गोमांसादीति, गोः—सुरमेमांसं, आदिद्वन्द्वत् वान्तोच्चारसुरा प्रहः तैरूपमा सादृश्यं यस्य तत्तथा । यद्भक्तमाहु—र्तुवत मणधराः, यथाहि गोमांसमद्यत् लोकधर्मविरुद्धत्वेन महापापहेतुत्वात् अत्यन्तनिन्दितत्वात् विषेकिना सर्वथा हेयं, तथाऽऽधा कर्ममक्तमपि, एव वान्तादिष्वपि यथासम्भवं शोच्य । अथपि प्रकारान्तरे, यद्भक्त सुखा मुनिर्पाति—गच्छति ‘ अघो ’ऽपस्तात्, संयमादिति श्रेय, अथवा अघोमति—नरक । अत्र च वृत्ते एक वाक्यस्येनैव यच्छब्देन सकलवाक्यार्थे दीपिते अतप्रतिपद यच्छब्दो पादानं तस्मिन्नादिमक्तस्यात्यन्तपरिहरणीयता स्यापनार्थं । यस्याश्चामासैः—इहानीन्तन काठापेक्षया यतीनामाधाकर्ममोहनमपीष्यते तदनुमानास्यां निषिष्यते, तथाहि—यतीना माधाकर्ममोहनमनुपादेय, बह्वीबनिकायोपमई निष्पन्नत्वात्, तथाविध वसत्यादिबत् । तथा यतीनामाधाकर्ममोहनमोच्य, धर्मलोकविरुद्धत्वाद्, गोमांसादिबदिति । एवं शोपयश्चेतत्—सद्वादिमक्त यतीना न सोक्त्यमिति वृत्तार्थः ॥ ६ ॥

इदानीं देवद्रव्योपमोगद्वयप्रदर्शनद्वारेण द्विनगृहवासनिराकरणायाह—

गामद्वयगन्धर्वनृत्त्यपरमगिरभवेणुगुञ्जन्मृदङ्ग ।

उपाख्या—सल्लुर्निश्चये, द्विनगृहे ' अर्हन्मतद्वा ' भगवदागमनिपुणा पतयो नैव
 वसन्ति, तदागमे तद् निवासस्यास्पन्तं निवारणात्, मन्तो-विशेकिनः । कुतः ? इत्यत
 आह—' सती ' श्लोमनाऽऽकृत्रिमा मक्तिः तस्या ' योग्यं ' उचितं, तस्मिन्, मक्तिरेव
 पतस्तत्र कर्तुं पुन्यते । मक्तियोग्यतामेव विशेषतो विशेषणद्वारेण दर्शयति—गापदि
 त्यादि, गायन्तो-भगवद् गुणानवोत्कीर्षयन्तो ' गन्धर्वाः ' प्रधानगायना यत्र तत्तथा,
 नृत्पन्ती-नाट्यशास्त्रोक्तक्रमेण करधरणादि-अङ्गविशेषं कर्तुं ' पणरमणी ' वारस्त्री नृत्यकी
 यत्र तत्तथा, रणन्तो-सुलभमठताभिषातान्मयुरं ध्वनन्तो ' वेणयो ' वंश्या यत्र तत्तथा,
 गुञ्जन्तो-मार्दङ्गिकैः पाणिभ्यां ताडनाद् गम्भीरं स्वनन्तो ' मृदङ्गा ' मर्लुं हुर]त्रा यत्र
 तत्तथा, प्रेङ्गन्त्यो-सम्भमानत्वात् मन्दपवनन कम्पमाना दवसेवार्थं विरचिताः ' पुष्प
 स्रजः ' पुष्पमाला यत्र तत्तथा, उषत्-भगवत्प्रतिमा विलेपनार्थं विमर्दनवस्तुच्छलद्भ
 द्वारेण प्रसरन्मृगमदः-कस्तूरिका यत्र तत्तथा, लसन्तः-पङ्काशुकमपत्वान्मुक्ताफलादि
 विच्छिचि युक्तरवाद्य दीप्यमाना सल्लोषा-अन्द्रोदया यत्र तत्तथा, चञ्चन्तो-महापन
 वस्त्रासङ्कारासङ्गतरीरस्वात् आशिष्णयो ' अनौषाः ' भावकसङ्घा यत्र तत्तथा, सतथ
 गायद्गन्धर्वं च सद्यस्तप्यभरमणि चेत्यादि कर्मधारयस्तस्मिन् । एतानि हि भगवद्गुण
 गानादीनि प्रभराणि द्विनगृह मक्तिइतुकानि, मप्यानां श्रुमभावोक्तासहेतुत्वात् भद्रालुभिः
 क्रियन्ते, अथैवविष मक्तियोग्यद्विनगृहे किमिति साधयो न निवसन्ति ? अत आह—
 ' असन्तो ' विम्यन्तः, कुतो ? देवद्रव्यस्य ' उपमोगः ' सतत तत्र क्षयनासनमोसनादि
 करणेन उपयोगः तथा ' धृवा ' क्षाभती-यावञ्जीव अथवा ' ध्रुव ' निश्चितं ' मठो '
 द्विनगृहजगतीसम्भदो यतिनिमित्तनिष्पन्न उपाभयस्तस्य ' पतिता ' आधिपत्य-द्विन
 गृहलस्यकोद्वाहिविज्ञा कर्मान्तरादि सकलचिन्ताकारित्वेनाधिकारित्वमिति यावत् । तथा
 भगवत्प्रतिमा-प्रत्यामद्यौ भोजन-क्षयनासन-निष्ठीवनाद्यविधि करणेन मभस्याद्यातना
 अवस्था, सतथ देवद्रव्योपमोगमेत्यादि द्वन्द्वः । ताम्यः । अथ गृहिणा भगवन्निमित्त स्त्र
 द्रविष्येन निर्मापितं देवगृहे वसतो देवद्रव्य कनकादिकमनुपसृज्यमानस्य यतः कथं देव
 द्रव्योपमोग ? द्विनद्रव्यनिष्पन्ने हि सत्र निवसतस्त्रद्रव्य साक्षाद्गुञ्जानस्य गृह्यतो वा म
 स्यादिति चेन्न, गृहिणा स्वद्रव्यनिर्मापितत्वऽपि तस्मिन् देवाय कृतत्वेन देवद्रव्यत्वात्,
 तथा च सत्र वमतः माघाचदनमनुपसृज्यमानस्यापि सुनर्देवद्रव्योपमोगोपपत्तेः, माघारेव
 द्रव्यनिष्पन्ने तु वा वार्त्ता ? इति यतिमिद्विनगृहे न वायः कार्य इति वृत्तार्थं ॥ ७ ॥

इदानीं विनायासेवितत्वेन सिद्धान्तोक्तत्वेन च यतीनां परगृहवसतिं व्यवस्थापयन्
वसत्यधमा द्वारं काश्चिद्वयेन निरसिसिपुराह—

साक्षाच्चिन्नैर्गणपदैश्च निसेवितोक्तं ॥ ८ ॥

विप्रोत्सर्गोपबाधे यदिह शिवपुरीवृत्तमूले निष्ठीये ॥ ९ ॥

व्याख्या—कः सकर्मः पुमान् 'परगृहे' गृहस्यगृहे 'वसतिं' निवासं 'विद्वेष्टि'
मात्सर्पात् न क्षमते—निषेधयति ? घुनिपुङ्गवानां—सुबिहितयतीनां, न कश्चिद्विस्वर्षः ।
अयमर्थः—अकर्णो हि कर्णो विना सिद्धान्तोक्तमपि परगृहवसतिमनाकर्मयन् द्विष्पादपि,
यः पुनः 'सकर्मः' सभक्ष्यः अथ च सहृदयः—परगृहवासवैत्यान्तर्वासगुणदोषविचारचतुर
इति, स परगृहवसतिं यतीनामनुमोदयत्येव, न तु द्वेष्टि । किंरूपां वसतिं ? 'निषेविता' च
सोक्ता वेति कर्मधारयः । कथं ? 'साक्षात्' प्रत्यय—स्वयमित्यर्थः । कैः ? चिन्नै—स्तीर्य
कृद्भिर्गणपदै—गौतमस्वामिप्रसूतिभिः । यः समुच्चये । विनादिमिरुक्ता, तां । तथा सन्पते
सक्यते अनोऽस्मिभिति सङ्गः—गृह धन-कनक तनय वनिता स्वजन-परिभ्रनादिपरिभ्रहः,
निर्गताः सङ्गात् निःस्वङ्गास्तेषां मावस्वया, तस्या 'अग्रिमं' मुख्य 'पदं' स्थान
घुनीनां परगृहवसतिः, अपथा निस्सङ्गताया 'अग्रिमं' मौलं 'पदं' लक्ष्य—लिङ्गमित्यर्थः
"पदं व्यवसितत्राय—स्वानसङ्गमाहि वस्तुपु" इत्यनेकार्थवचनात् । निस्सङ्गता हि घुनिस्व
लक्षण, बहिरिव दाहपाकादिसामर्थ्यस्य, तस्याश्च लिङ्ग परगृहवसतिः, नहि स्वाधीने
विमये विद्वान् कश्चित्परमुपजीवेदिति । अत्र च पदद्वन्द्वस्यापि [शि] उल्लिङ्गत्वात्
विशेष्यलिङ्गता किं कुर्वन् विद्वेष्टि ? इत्यत आह—'ज्ञानन्' आगमभवयेनानमुद्व्यमानेः ।
कां ? अस्यातर इत्युक्ति—भाषा, ताम् । सिद्धान्ते हि अस्यातर इति भाषा भूपते,
न चासौ माधूनां परगृहवास विनोपपद्यते, तथाहि—'अस्याया' वसत्या यतिर्यो दान,
तथा तरति संसारसमुद्रमिति अस्यातरद्वन्द्वार्थः, परगृहवसतिं विना यतीनां न कश्चि
रसाधुअस्यादान यत्तेषु, न च तरणमस्तीति अस्यातरद्वन्द्वस्य स्वार्थालामे निर्बिषयत्वा
पथा सिद्धान्तं प्रतिस्थानमुच्चारणं कथमिव शोभां विसृज्यात् ?, तस्मादागम अस्यातर
द्वन्द्वभूतेरपि परगृहवसतिर्घुनीनां द्रापते । तथा अनगारपद च, ज्ञानमिति सम्बन्धते ।
यः समुच्चये । न विघने 'अगारं' गृह यस्यामौ अनगारा, ततश्च अनगार इति पद
व्यपदेशः, ध्रुत अनगारपद यतिवाचकं प्रतिपदं ध्रुयते तत्र तेषां स्वागारामाद्येन परा
गारवासन च मङ्गलम् । अथवा स्वागारमद्भाषे चैरपथासे वा यथाक्रम यन्गृहवति—
मठवति—व्यपदेशप्रसङ्गना—नगारपदवैपर्यमापद्येतेति । ननु यदि हि सर्वागमे चैत्य

वासोऽनमिमतः स्यात्तदा परगृहवसतिः क्षम्येतापि, यदा तु तत्र कश्चित्पवासे कश्चित्प्रपि इतेनैव भवन्तिः परगृहवसतिरास्वीयते, तदा कथं क्षम्यते ? इत्याह—
 विश्रोत्सर्गोत्पादि, पद्यस्मात् इहप्रवचने 'निश्चिद्ये' प्रकृत्याप्यपने पञ्चमीदेशकादौ किञ्चिभूते ? सामान्यविधिस्तर्गः विश्लेषविधिरपवादः । तस्तर्गभाषादभेति इन्द्रः । ततश्च 'भिन्नो' नानाविधौ वसत्यादिगोचराद्युत्सर्गपवादौ—सामान्यविश्लेषविधी यत्र स तथा, तत्र तथा 'द्विषपूर्वा' मोक्षनगर्वा 'दूतयूतः' सन्देशहरसदृशस्तत्र, भूतक्षम्यस्यात्र सदृश-
 वाधित्वात्, 'प्राक्' प्रथम 'उच्छना' प्रतिपाद्य 'भूरिमेदाः' प्रभूतप्रकारा 'गृह्णित्वा
 वसतीः' गृहस्थसदनरूपोपाभयान् पश्चात्—परम कारणे तत्रविषयसरयलामलक्षणे इती
 'अपोष' अपवादविपयीकृत्य, ता एवेति गम्यते । अयमर्थः—निश्चिद्य पूर्वमौत्सर्गिका
 वसतिमेदा पतिवासयोग्यत्वेन कथिताः ।

यथा—

“ मूलुत्तरगुणविस्तृत, भी-पसु-पङ्क विवक्षित वसति ।

सेविञ्च सत्त्वकाञ्च, विवक्ष्यत इति दोसाञ्चो ॥ १ ॥

“ विच्छिन्ना सुदृष्टिया, पमाणसुता च तिविह वसतीञ्चो ।

पङ्कमवीपासु अणे, तस्व च दोसा इने इति ॥ २ ॥

तथा साष्ठीरुद्दिष्टयोदित—

“गुचागुचारा कुञ्चपते सति—मत—गभीरे । मीवपरिस्तमद्विपि, अञ्चा सिञ्चावरे भविप ॥ १ ॥

“ पणकुहासकबाबा, सागारियभगिणिमाह पेरता ।

निष्पञ्चबापञ्चोगा, विच्छिन्नपुरोदका (पश्चाद्घाटकाः) वसती ॥ २ ॥

तद्वहामे वभात्ता एवापवादोदिताः । यथा—त्रुक्ष्यप्रतिवह्यायामपि वसती कारणे न
 वस्तम्य, तथा चाह—

“ अज्ञानमिगगवाह, विवक्षुतो मगिगण्य असुहृष ।

गीवत्वा अपणाप, वसति चो दम्पवद्विषये ॥ १ ॥

‘ इत्थं आमरणविधी, वत्प्रासंकारमोयमे गणे ।

आतञ्च—नृ—माहय, गीप सयमे च दम्पस्मि ॥ २ ॥ ”

“ अज्ञानानिगायार्हं, विष्णुषी मगिरुण व्यसईय ।
गीयत्वा अयणाय, वसंति तो भावपडिबदे ॥ ३ ॥ ”

“ अह कारणे पुरिसेसुं तह कारणे इत्वियामु विवसंति ।
अज्ञानवाससावय-तेजेसुं य कारणे वसइ ॥ ४ ॥ ”

तत अपोध किं कृतमित्यत आह-न्ययमि, संयतानां निवास इति सम्बन्ध ।
‘संयतानां’ सुबिहितानां निवासो-ऽवस्थानं -ययमि क ? ‘मगारिभाम्नि’ गृहस्वगृहे ।
कीदृशे ? स्त्रीणां ‘संसक्तिः’ संसर्गो-रूपायापातप्रत्यासक्तिः । आदिग्रहणात्पञ्चपण्ड
कादिग्रहः । ‘तत् पुक्तेऽपि’ तत्सहितऽपि, आस्तां तद्ग्रहित इत्यपि अन्वार्थ । ननु
“ वमवयस्स अगुची ” इत्यादि वचनात्स्त्रीसंसक्तिमति—

“ पसुपंडगोसु वि इह, मोहानम्वीविमाण स होइ ।
पावमसुहा पविची, पुववमवकभासजो तह य ॥ १ ॥ ”

इत्यादि वचनात्पञ्चपण्डकसंसक्तिमति च परसदने वसतां संयतानां ममभोक्त
सिक्तायनकदोष सम्मवात् कथं तत्र वासो नियमितः ? तत्राह-अभिहित्वा निशीथे
प्रतिपादिता यतना स्त्रीसंसक्त्यादि सम्भवत्कन्वर्षदिकारा असत् प्रवृत्तिनिवृत्तिपटीयसी
तिरस्करणी कटाद्यन्तर्धानरूपा चेष्टा, यदाह—

“ जीठ पभूवतरा, सण्णविधि विजिभित्तिक्कञ्ज वत्तुं ।
सिअइ विगइ अओ, सा अयणायाप विइवम्मि ॥ १ ॥ ”

‘आणाप विइयमि’पि आङ्गया-भासोपदृष्टनीत्या ‘विपदि’ द्रव्य क्षेत्र काल भावा
धीर्यर्थः । ‘तत्कारिणां’ तद्गुणतानां, यथाह—

“ भावम्मि ठायमाणा, पडमं ठापति क्वपडिबदे ।
तविय कडगविळ्ळिमिळी, तस्सा सइठंति पासवणे ॥ १ ॥ ”

“ पासवणे मत्तपसु, गणे अमत्थ विळ्ळिमिळीरूथे ।
सण्णाय ज्ञाणे वा, आवरणे सइकरणे य ॥ २ ॥ ”

“ अहि अण्णवरा होसा, आमरणाईण वूर उमिवा ।
विळ्ळिमिळीमिळि आगरणे, गीय अण्णाय ज्ञाणाई ॥ ३ ॥ ”

“ अद्याप्यमिमांसाह, तिक्शुतो मग्गिऊण असईय ।

गीवत्था अयपाय, वसंति तो इव सागरिय ॥ ८ ॥ ”

“ अद्याप्यनिग्गमाह, वासे सावयमय व तेजभय ।

आवलिप्पा तिविहे वी, वसंति अबणाइ गीयत्था ॥ ९ ॥ ”

इय यतना स्त्रीसंसकृत्वसतिमधिकृत्योक्ता । पशुपण्डकसंसक्तायामपि वमतौ वसताम् एतदनुसारेण सम्मभिनी यतना इष्ट्या, तदयमर्थः—स्त्रीसंसक्यादि सम्मवेऽप्येव विष यतना सावधानानां मुनीनां तज्जन्त्या दोषाः प्रादुष्यन्ति सर्वत्रेति, सर्वत्रिन् अपि वसत्यधिकारप्रवृत्तौ दोषकादौ । नन्वेव यतनावतां चैत्यवासेऽपि को दोषः ? इत्यत आह न तु, ‘तु’ पुनर्मेदेऽवधारणे वा, तेन न पुनर्नेव वा ‘मत’ इयः कापि उद्देशकादौ चैत्यविन गृहे निवासो निवाम इत्युभयत्र योज्यते, एतदुक्तं भवति—यदि हि चैत्यवासो वतीनां कश्चिन्मतः स्यात् तदा स्त्रीसंसक्यादि युक्त इव गृहे वसतां, तत्रापि काञ्चित् यतनां भूयात् न चैव, ततोऽवसीयते—अमारिषाम्भ्येव संयतां—यतीनां वासो, न चैत्य इति । तस्मात् न सकर्म्येन तद् द्वेषो विधेय इति काव्यद्वयार्थः ॥ ९ ॥

साम्प्रतमर्थादित्रय—गोचरस्वीकार—शरत्रयमेकवृत्तेनाह—

मत्रव्याप्रतिपन्निन न तु वनस्वीकारमाहुर्मिमाः, ॥ १० ॥

व्याख्या—नस्त्वित्यस्यमायां, न क्षम्यत एतत्, यदुत—साधूनां वनस्वीकार इति, यतो ‘वनस्वीकार’ द्रव्यसङ्ग्रह ‘आहुः’ वृद्धन्ति जिनाः, अत्र जिनानाम् श्दानी मतीतस्वेनोपदेशासम्मवात् ‘आहुः’ इत्यत्रातीतविमक्तिप्राप्तावपि यद्वर्षमानकथनं तत्तेषां स्वागमैः प्रन्वसङ्ग्रहविपाकप्रतिपादकैः स्फुरत्पतयाऽद्य यावदनुवृत्तिभिरमेदाप्यवसायेन वर्षमानतयाऽवभासात् तदुपदृशदानप्रदर्शनेन क्षिप्यान्नां वनस्वीकारं प्रत्यतिबिहीषां यथा स्यादिति ज्ञापनार्थं एव उत्तरपदेऽपि योज्यम् । कीदृश ? ‘प्रवन्त्यायाः’ सर्वसङ्ग-त्वागरूपाया दीक्षायाः ‘प्रतिपन्निनं’ विरोधिने, विरोचन्नात्र वक्ष्यमातकलक्षणः तथाहि—द्रव्यसङ्ग्रहो मूर्च्छापरिणामः प्रवन्त्या अ तद्विरतिपरिणामः तयो चात्र वल्लवता मूर्च्छापरि णामेन तद्विरतिपरिणामो वाच्यत इति तथा ‘सर्वारम्भिणां’ सकलसावधारम्मप्रवृत्तानां गृहिणां परिग्रहो मूर्च्छाहितः सामकस्वभुक्तिः स तथा, तं । सुखम्बोऽर्षस्वीकारात् अस्य भेदप्रदर्शनार्थः । अतिशयेन ‘महासावध’ मदासपायं ‘आवच्छते’ बद्धन्ति, जिना इति पूर्वस्मात् अनुकल्पते । अत्र चाहु रिति क्रियाऽनुवृत्त्यैव मावयसिद्धान्तश्च इति पुनरभिधान

द्वारान्तर-निराकरणमेतदिति ज्ञापनार्थम् । अयमर्थः-गृहपरिग्रहे हि तस्कृतकारितादि सकलमहारम्म-महापरिग्रह-अनितपापानुमत्यादिना यतीनामपि तस्कृतादिनिखिलबाध प्रसङ्गोऽतः क्व तस्य नातिमहासाधयता ? परकृतमहापापस्यारमन्पश्चारोपबन्धेन चातिशब्दार्थः । तदुक्त-“आरम्मनिर्भरं गृहस्वपरिग्रहेन, तस्यातक सकलमारमनि सन्वधानाः । सत्यात् पतन्त्य-इ ह ! । तस्करमोषदोषं, माह्व्यनिग्रहमय सितमिष्टुपाश्वा ॥ १ ॥ ” इति । अतएव गृहपरिग्रहे यतीनां प्राविष्टापण्या भुते निवारिता, यदुक्त “ओतन्न-गिहिसु लहुगे ” स्यादि । एतेन गृहस्वीकारं प्रति यत्परस्य पूर्वं हि कालस्य सौख्यादिना युक्त्यभिधानं तदपि निरस्तम् । कालदोषात् कृतीर्थिकादि-भूमस्त्येऽपि गृहस्वीकारमन्तरेणापि मद्रकादि भावेभ्यो यतीनामधुनाऽपि मिष्टादिप्राप्तेरुपपत्तेः, अतः केवल औदरिकत्वापण्याऽतीवोपहासपद् विदुषां तदर्थस्तत्स्वीकार इति । योऽपि “आ अस्स ठिईं आ अस्स संधिइ पुहपुरिम क्य मेरो सो तं अइ कमतो अनंत संसारी उ होइ । इत्यागमोपन्यासः सोऽपि न मबदभिमत्प्रसाधकः, अन्यार्थत्वात्, न हि गृह परिग्रहसाधकोऽय प्रकृतागमः, किन्तु गणधरादीनां क्षिप्य-प्रतिक्षिप्यपरिग्रहविषयः, तथाहि-या काचित् अस्य गणधरक्षिप्यप्रतिक्षिप्यादेः स्थितिः-प्रतिक्रमणवन्दनादौ न्यूना धिक-धमाभमणदानादि-लक्षणा सामाज्यारी, या वा यस्य सन्तविर्गुणपारम्यैर्बालोष नादि दानविषयः सम्प्रदायाः, या च पूर्वपुरुषकृता गणधरादिप्रवर्तिता ‘मेरा’ मर्षादा-गच्छन्वपश्चा, सामतिक्रमन् अनन्तसंसारिको मवसीति, अत्र हि गणधरक्षिप्यादीनां स्वस्वगुणप्रदर्शित-स्वित्याद्यतिक्रमेऽनन्तसंसारितापण्या प्रतिनियतगणधरपरिग्रहविषयस्य मवसीयत्, भावकाणां तु सर्ववार्तिकगच्छेन्वविशेषेण मरूपानादि मरूपमिधानात् । चर्मगुरुषु तद्गुणच्छे वा विशेषेण दानमक्तिप्रतिपादनं तेषां दुष्पतीकारतया, न तु तत् स्वीकारविषयतयेति । एव गृहपरिग्रहः सर्वथा यतीनां नोचित इति ५ । तथा ‘वैत्यस्य’ भिनगृहस्य ‘स्वीकरण’ स्वायत्ततावादानं, तत्र । तुरत्रापि प्रथमद्वारादस्य मेदमाह-‘गर्हिततमं’ प्रत्यहं सकलवैत्यकृत्यचिन्ता तद्व्योपभोगादिना लोकेऽप्यति निन्दितं ‘माठपत्य’ मठनापकत्वं ‘स्यात्’ मवेत् ‘पठेः’ मुनेः । एतदुक्त मवति-वैत्यस्वीकारं हि यतीनां तच्चिन्तनं सकलमनुष्ठेयं, तस्य आरम्मदोषवत्तया द्रव्यस्तवत्वेन यतीनां निवारणात्, एव च स्वमेव परिमाणय मार्गानुसारित् या पुञ्जा य-मुनेर्देवा चिकारं चिन्तयतः क्व माठपत्यमतिक्रान्तं न प्रसज्यत ? इति । लौकिका भव्याहुः-तथा-“यदीच्छेन्नरक गन्तु, सपुत्रपशुवाचनः । इवेन्वचिहृतिं हृपति-गोषु च प्राञ्जेषु च ॥ १ ॥ तथा “नरकाय मतिस्ते येत्, पौरोहित्य समाचर । सर्वं पावस्किमन्वेन, माठपत्यं दिनत्रयम् ॥ १ ॥ ३ ॥

इदानीं निगमयति—यस्मात् अर्थे यस्मात् एव—मित्युक्तक्रमेण 'व्रतवैरिणी' चारित्र-
प्रतिपत्तिनी, इति हेत्वर्थे मिश्रक्रमः स चाग्रे योस्यते, ममता-अर्पादिषु स्त्रीकारपुद्भिः,
इति यस्माद्देतोर्न युक्ता-नोपपन्ना—'सुक्त्परिणा' निर्वाणामिलापिणां मुनिनामिति
वृत्तार्थः ॥ १-१० ॥ ६ ॥

साम्प्रतम् असंयमादि-दोषप्रदर्शननाप्रेक्षितापासन-द्वारं निराकर्तुमाह—

मवति नियतमत्रासंयमः स्याद्विभूषा ॥ ११ ॥

व्या०—'मवति' भाषते 'नियत' सर्वथा 'अत्र' गच्छिकापासनेऽसंयमो जीव
रक्षाऽभावः, गच्छिकादेर्नित्यस्युत्खादिना प्रयुपपन्न्यादि अभावे विषरादिना तदन्तः प्रवि
ष्टानां तदन्तरं चोत्पन्नानां वा त्रसादीनां तत्रोपवेद्यनेन विनाशसम्भवात् । मिश्रोरिति
वृत्तमध्यस्य पदं सर्वत्र सम्बध्यते । 'स्यात्' भवेत् 'विभूषा' शोभा, तत्रोपविष्टस्य
जगतोऽप्युपरिवर्त्यहमिति विभूषा कार्यमिमानप्रवृत्तेः, विभूषा च यतीनामवश्यं वर्जनीया,
यदुक्तं—“विभूषावचिय मिक्त्तू, कर्मं वषट् चिक्रम । संसारसायरे घोरे, जेण पढ्ढ
दुरुत्तरे ॥ १ ॥” इति । 'नृपतेः' राज्ञः 'कफुद्' चिह्न, राज्यादीनामेव प्रायेण महर्षिकानां
तत्रोपवेद्यन-दर्शनात् । 'लोकहासो' जनतोत्प्रासनं, चन्द्रो दोषसमुच्चये । 'मिश्रोः-यतः'
महो ॥ मिश्रोपजीविनो मुण्डिता अपि एवंविधासनेषूपविद्यन्तीत्यादि सूर्यजनवचन
भ्रवणात् 'स्फुटतरो' लोकप्रकटः । इह गच्छिकादौ 'सङ्गः' परिग्रहो महाचनरत्नेन मूर्च्छा
हेतुत्वात् 'सातशीलत्व' सुम्बलालसत्वं, तदन्तरेण इमरुतदिपूर्वेषु सुस्पर्शेषु तथाविधा
सनेषु यति अनुचिततया सिद्धान्तनिषिद्धेषूपवेद्योऽमम्मयी, तथै-रतिशयेन, इति हेतौ ।
एष्यो इतुम्यो 'न म्बु' नैव, तद्वरवधारणे सुसुधो-मौञ्जार्थिनो यतेः 'सङ्गत' युक्तियुक्त
गच्छिकापासनं, तपमोगतवति श्रेयः । लोकप्रसिद्धो कृतादिमुक्त भासनविशेषो गच्छिका ।
आदिशम्यान्-महर्षिसिंहासनादिपरिग्रहः । एतेन यदपि “नाणादिशो वरतरं” इत्याद्या
गमवत्तेन प्रवचनप्रमावनाङ्गतया यतीनां गच्छिकासिंहासनादि-आसनेषुपवेद्यनसमर्थेन
तदपि सुसुशीलतावित्सिद्धि । हृदेत् यतीनां गच्छिकापासनमनुदादेश, असंयमहेतुत्वात्,
आपाकर्म्मिकमोक्षणवदिति वृत्तार्थः ॥ ११-७ ॥

साम्प्रतं सनामोक्षार-सावधापरितामिधान-पुरस्सर-तदोपप्रदर्शनेन सावध्य-
परितद्वारं निरस्यमाह—

गृही नियतगच्छमाग्ं भिनगृहेऽधिकारो यतेः ॥ १२ ॥ (पूर्वी)

व्याख्या—‘गतस्य’ पूर्वं प्रस्थितस्य कस्मचित् ‘अनु’ पश्चात् ‘गतं’ मयन
 मन्यस्य यत्तद् गतानुगत, तदेवामस्तीति गतानुगतिः। अस्त्यर्थे इह प्रत्ययस्तद्विः।
 अयमर्थः—यथा गृहकारिकाः काञ्चन दिक्षु प्रतीत्य काञ्चिदेकामधिदेकां पुरो गच्छन्तीमवतोक्त्वा
 तदनुमार्गेण पाश्चात्प्रायः सर्वा अपि तामनुगच्छन्ति, न मार्गस्य सुगम-दुर्गमत्वादिकं सूच-
 यन्ते, तथा भिनप्रवचने सुखलोलतया काञ्चिदेक प्रवाहमार्गे गच्छन्तं वीक्ष्य तच्छीघ्रतयाऽ-
 न्येऽपि तद् न्यायान्यापतामविचारयन्तो ये तमनुगच्छन्ति ते संसारपञ्चामिनन्दितत्वात्
 तथोच्यन्ते, तैर्गतानुगतिरै-र्लोकप्रवाहपतितै-र्यस्यामासैः ‘अद्’ एतत्सकलजनप्रत्यर्थं
 गृहिनियतगच्छमञ्जनादिकं सावधानाचारितम्, अस्य सावधानाचारितस्य अनेकविधत्वापि
 समुदायरूपतयैकत्वं विवक्ष्यतात्। कथमिति श्लेषे “गर्मप्रकारवचनो निपातः” केन कृत्स्न
 प्रकारेण ‘असंस्तुत’ यतीनाम्-अकृत्यतया अपरिचितम् अपि अनुचितमिति यावत्। ‘प्रस्तुतं’
 प्रारम्भमाहृतमित्यर्थः। तदेव नाम प्राहमाह-गृही भ्रातृको ‘नियतं’ गच्छान्तरपरिहारेण
 एकतरं ‘गच्छ’ आचार्यं प्रतिबद्ध यतिसमुदायं ‘मञ्जते’ परिगृह्णाति स तथा, गृह्णीतां नियत-
 गच्छमाकत्वे हि यतीनामिदानीं सर्वं मकृपानादि निरावाधं निर्दिहतीति विद्या तादृश
 गुरुपदेशेन गृही निमित्तनिष्पन्नमागं भवतीति क्रियापदं यथासम्भवमप्याहार्यं, गृहि
 नियतगच्छमाकत्वा यतीनां तद्गतसकलसामानुमत्त्वादिना पापसत्त्वप्रसङ्गेना-संस्तुत।
 तथा ‘भिनगृहे’ देशमवने ‘ऽधिकारः’ सकलतत्कृत्यचिन्तनं नियमो ‘यते’र्षुनेः, आह्वान-
 मिदानीं तच्चिन्तानिरवधानता-भ्यामेव अस्य चासंस्तुतत्वं चैत्यस्वीकारद्वार-निराकरणे
 प्रागेव दर्शित। तथा ‘प्रद्वेष’ चित्तवर्णीय अज्ञानादि अज्ञानं-मोहनमोदनादि, आदि
 शब्दात् पानकादिग्रहः ‘साधुषु’ पतिषु। अत्र च सम्प्रदानेऽपि विषयविषयता समी।
 ‘यथा-तथा’ येन तेन प्रकारेण-अद्भुतमपीत्यर्थः। ‘आरम्भमि’र्गृहस्यैरघुना केषलेन गृहे
 नाशनादिना निर्बाहमावादिषि, छधना अद्भुताशनादि दानप्रवर्धनस्य चासंस्तुतत्वम् औद्दे
 शिकमोहननिरसनावसरे प्रतिपादित। तथा ‘व्रतं’ सर्वविरतिः, आदिशब्दादेशविरति
 सम्पत्कारोपणं तदन्तिकगमनादिग्रहः, तत्र ‘व्रतादिविधः’ सर्वविरत्यादि-अम्पुपगमस्य
 ‘वारण’ निषेधः ‘सुविहितान्तिक’ स-धुनिसमीपे अगारिणा-माह्वानां, एतत् दक्षनापरिज
 तान्तःकरवा न अस्मत्पार्श्वे वीक्षादिक्रमपी गृहीष्यन्ति इति बुद्ध्या, एतस्य चासंस्तुतत्वं
 तेषां सुविहिताम्यासे देशनाकर्षण-व्रतादिनिषेधेन पर्यायास उत्सृज्यदेशना अस्मिन्ताऽ-
 स्त-विषेकमस्तकतया, तदेतुक्तानिचारित-प्रसरदुर्गतिवअपाता-पावनात्, अन्यदुर्गति
 पातने च यतीनां पापादपि पापीयः। एवं च चिन्त्यमानमाधुनिकजनीनां सावधान-
 चरितमागमविरुद्धतायाः कथं न ज्ञापयति ? इति काव्यार्थः ॥ १२ ॥ ८

इरानी भुवपथा-महा-द्वार-निरासमुपक्रमते—

निर्वाहार्थिनमुच्छित गुणध्वैरघातशीलान्वय ॥ ११ ॥

व्याख्या—‘निर्वाहार्थिनं’ कबलोदरमरणप्रयोजन, न तु संसारनिस्तार
 कांक्षिणं, उच्छित-हीनं ‘गुणध्वैः’ क्षमादिलक्षैरपि, प्रव्रज्यायोग्यो हि पुरुषः क्षमादि
 गुणवान् भवति, तदुक्त—“पञ्चजाप चोग्गा, आरियदेसम्मि ज्ञे समुप्पसा । माह
 कुलेहि विसिद्धा, एह खीमप्पायकम्ममत्ता ॥ १ ॥ एव पञ्चए चिय, अबगय संसारनिग्गु
 मसहावा । तपो य तदिरत्ता, पयणु-कमायऽप्यहासा य ॥२॥” अयं तु क्षमादि अर्थेनापि
 त्यक्तः । तथा ‘शीलं’ स्वभावः सर्वज्ञ च ‘अन्वयम्’ क्लृप्त, शीलं चान्वयमेति द्रष्टव्यं,
 ततः अघाता-विविधितौ शीलान्वयी यस्य न तथा, त। परीक्षित-शीलकृत्स्य हि प्रव्रज्या
 दानं धास्त्रेऽभिहितं, अभिहितस्वभाषो हि कषायदुष्टादिना कश्चिदपराधे गुर्वादिना
 क्षिप्रितः तमपि जिघांसति, एवमघातवृत्तौऽपि तस्करादिः प्रव्रजितः तच्छीलत्वात् स-तैन्या
 दिक् कदाचिद्वारचम् मच्छमपि तुलायामारोपयति, तथा अभिहितकुलो दीक्षितः कथमपि
 कर्मोदयात् दीक्षां जिहासुर्निरह्यतया महात्वेव, कुलीनस्तु कदाचिदकार्यं विहीर्षुरपि
 कौस्त्य-सततगुरुशिष्या-निबिडनिगडनियमितो न करोत्येव । तथा ‘गुण्डीकृत’ दीक्षितं
 ‘गुरुणा’ भाषार्थेण । तादृशि-विनेयवशसमे वशे जातः स तथाऽकुलोद्भव इत्यर्थः ।
 तथा तेन तत् सजातीयविनय तुरया गुणा निःशीलतादयो धर्मा यस्य स तथा । ततः
 कर्मधारयस्तेन कर्मधारयसमासकारणेन च गुरुशिष्ययो बंधगुणास्पन्तग्राजास्य रूपनक्ति,
 तादृशो हि तादृशमेव सुप्रवृत्ते “समानशीलरूपमनपु सरूप”मिति वचनात् । ‘स्वार्थाय’
 स्वप्रयोजनाय-स्वधरीरशुभ्रूपादिदेवते, नतु संसारदुःखेभ्यो मोक्षयितु, तमेव विष
 ‘पद्मार्थयन्ति’ मलयक्ष-पु-मण-धनसारादिना बह्यादिना च मत्तं पूजयन्ति । ‘अधिक’
 मिति क्रियाविशेषणं-अतिरिक्तं ‘द्वेष्यो’ जिनेभ्योऽपि ‘अनाः’ धावकलोकाः । ननु
 ते सं पूजयन्तः तादृग्गुणा एव भविष्यन्तीत्यत आह-‘विरुयातगुणान्वया अपि’ अगती
 प्रतीतगाम्भीर्योदाय-क्षमादिगुणमहाकुला अपि, आस्तां तदितर इत्यपि शब्दार्थः ।
 कस्मादेवमित्यत आह-सप्रोप्रगच्छग्रहा इति हेतुगर्भं विज्ञपयं । लग्ना-येतसि निषिष्ट
 ‘उग्रो’ इहो ‘गच्छग्रहो’ गच्छप्रतिबन्धो येषां त तथा । भवतु निर्गुणो वा गुणी
 वाऽयं, किं नोऽनया विन्तया ? गुरुभिरपमस्माकं प्रदर्शित, तथा अस्मद्द्वैरपि अयं
 गुरुत्वेनाभ्युपगतः, न च वयं तेभ्योऽपि परीक्षा दद्या, अतः तत्परिपाटीमनुरुपयाना
 नैन हास्याम इति विहितस्वगच्छगोचरमनोऽभिनिवेश इत्यर्थः । अथ विदुराणामपि तेषां

तादृशे निर्बन्धे को हेतुरित्यत आह—‘महतो’ अतिप्रबलस्य ‘मोहस्य’ मिथ्याऽमिनिवेश
 स्यापि तथाविद्याम्पर्चनादिकं ‘जृम्भितं’ लीलापितं, तथाहि—न गुरुपदार्थित्वं निर्गुणेऽपि
 तच्छिष्ये अम्पर्चनादि निबन्धन, यदि हि गुरुः स्वाभाव्यादिना निमित्तेन निर्गुणमपि
 स्वशिष्यं मोहाद् गुरुतया दर्शयति नैतावताऽसौ बहुमानमर्हति, विवेकिना गुणानामेष
 बहुमान हेतुत्वात्, ते चेत् तत्र न सति तदा किं निष्कलेन गुरुपदार्थित्वेन ? तथा
 स्वब्रह्माम्युपगमस्यापि निर्गुणगुरु बहुमानहेतुत्वे ठस्मीप्राप्तावपि नृणां स्वकृत्कृपा
 गतदारिद्र्यादेरपरित्यागप्रमह्यात् न चैवं श्लोक उपलभ्यते, यदुक्तं—“सगुरुप्राप्तौ ह्यगुरुं,
 क्रमातुपक्तमपि ब्रूति धीमन्तः । पिरपरिभितमपि नोच्छति, निधिलामे को नु दौर्म
 र्यम् ॥ १ ॥” तत्रैवं स्थिते यभिर्गुणेऽपि गुरुत्वााम्युपगमेनाम्पर्चनामि सन्धिः स
 महामोह महिमा एव इति वृत्तार्थः ॥ १३ ॥

एतर्हि गच्छद्गुद्राद्भित्ततया लोकानां सद्दर्शप्रतिपर्यादिना भुतावज्ञामीहमाणाः
 सविषादमाह—

दुष्प्राया गुरुकर्मसञ्चयवतां सद्यमेवुदित्वा ॥ १४ ॥

व्याख्या—‘दुष्प्राया’ दुर्लभा ‘सद्दर्शप्रति’ मंगवत्प्रणीत—निरुप—चरित—धर्मशि
 ष्ट्या । पारमेष्ठरस्य धर्मस्य सर्वस्वापि धोमनत्वाविशेषात् किं सदिति विशेषणेनेति चेत् ?
 न, तस्यापीदानीं कालदोषात् अनुभोतः—प्रतिधोतो रूपत्वेन द्वैविध्य दर्शनात्, तथाहि—सुख
 क्षीलजनैः सिद्धान्तनिरपेक्ष—स्वच्छन्दमतिप्रवर्तितो बहुजनप्रवृत्तिमोचरः यथा अनुभोता,
 ध्रुवोक्तसकलपुत्रस्युपपन्नः स्वयं मगवत्—प्रज्ञापितः प्रेक्षावत् प्रवृत्तिविषयस्तु प्रतिभोतः,
 अतोऽनुभोतोऽम्पर्च्छेदं प्रतिभोतः सन्नदीतुं सदिति विशेषण । केनां दुष्प्राया ? ‘नृणां’
 पुंसां ‘गुरुकर्मसञ्चयवतां’ महाज्ञानावरणादिसम्मारमाणां, सम्प्रति हि गुरुकर्मस्वास्तीदानीं
 न प्रायेण प्रतिभोतसि प्रवृत्तिरुपलभ्यते, यदुक्तं—“अयोग्यभावाद् गुरुकर्मयोगा—श्लोक
 प्रवाहस्तृहया दुराया । प्रायो अनानामधुना प्रवृत्तिः, पथि प्रतिभोतसि जैनचन्द्रे ॥१०”
 आतापामपि कश्चिच्चित् मन्व्यत्यपरिपाकात् प्रादुर्भूतायामपि सद्दर्शप्रति ‘दुर्लभो’ दुरासदः
 ‘शुभगुरु’ यद्यार्थसिद्धान्तप्ररूपनिपुणा श्लोकप्रवाहबहिर्भूतचेतोवृत्तिः कालावपेक्षानुष्ठान
 पटिष्टः सति । अयमर्थः—सद्दर्शमनोरथभावेऽपि सद्गुरुदृष्टगुरुं दिना नासावासायते,
 यदुक्तं—“धम्मापरिप्ल विना, अलईता सिद्धिमाहणो । वाय । अरपह तुंबसगा,
 ममंति संसारचकम्भि ॥ १ ॥” स च प्रायेण सम्पत्पुत्रमावकावार्पणानुर्येष तथाविधो
 नास्वमागपलभ्यः, यदुक्तं—“यस्यानस्यविकल्पस्यसहरीपुगुफुफुः प्रकयः, सजं अर्जर

यन्ति संसदि मद् विस्फूर्वता वादिनाम् । यद्योस्त्वपद न आतु दिशति व्याख्यासु स
 प्रायते, सञ्चारिप्रपञ्चितः शुभगुरुः पुण्यैरगण्यैर्यदि ॥ १ ॥ ” प्राप्तः—समासादितः
 ‘ स ’ उदितगुणगुरुर्गुरुः ‘ पुण्येन ’ मवान्तरसम्भृतमुकृतेन ‘ चेत् ’ यदि, तथापि—
 शुभगुरुप्राप्तावपि ‘ कर्तुं ’ पिबातु ‘ स्वहित ’ आत्मन आयतिसुखावह कर्म सद्धर्म
 प्रतिपत्तिपञ्चमं ‘ नास्तु ’ न समर्था ‘ भमी ’ पुण्यप्राप्तशुभगुरवो मर्त्याः । अथा
 सादितसुगुरवोऽपि ते किमिति न स्वहिताय यतन्ते ? इत्यत आह—‘ गच्छस्य ’ स्ववशा
 म्युपेत यतिवर्मस्य ‘ स्थितिः ’ पुष्पत्कुलादृतोऽय गच्छोऽय एते विहाय युष्माभिः नान्य
 देयना—अथवा—सम्पत्स्व—प्रतिपत्त्यादिक विधेयमिति गृहिणः प्रतीत्य लिङ्गिकता व्य
 वस्था, तथा ‘ व्याहताः ’ एवविषयशुभगुरु प्राप्तावपि निःसस्वतया किमेनां गच्छस्थिति
 युष्माभो न वेतीति कर्त्तव्यतोद्भ्रान्तान्तःकरणे । एव गच्छस्थितिभ्याहृत तेषां स्वहित
 करणासामर्थ्यमुपलभ्य तदुपचिकीर्षुः शेषः समुच्चयत्करुणापारावारः प्रकरणाकारः प्राह—
 ‘ कं भ्रम ’ इत्यादि, अतः कं पुरुषविशेष ‘ भ्रमो ’ मयामः ।, क ‘ इह ’ अगति ‘ आभ
 येमहि ’ सवमहि । क ‘ आराध्यम ’ दानादिनोपचारामः ।, एतयां मजनादीनां मर्त्यात्किं
 ‘ कुर्महे ’ विदम्भे ।, यदि कस्यचिद्महात्मनो मजनेन आराधनेन वा गच्छस्थिति
 विमुच्य सद्धर्मप्रतिपत्त्या एते स्वहितमाचरन्ति तदैतदपि क्रियते, परोपकृति ही—क्षित्वात्सु
 पुरुषाणामिति । अथवा यदाहि प्राप्तसुगुरवोऽपि तर्षं जानाना अप्येव गच्छस्थित्या
 व्याप्तुञ्जन्ति तदा क भ्रम इत्यादि, भ्रममर्थः—अज्ञानानो हि तत्र स्वय वा कस्यचिद्भ्रम
 नाराधनादिना वा तद्भोषयित्वा सद्धर्मं स्थाप्येतापि, एते च मूढा ज्ञानन्तोऽपि गच्छ
 स्थितिभ्याहृता, इति कथं तत्र स्थापयितुं पार्यते ?, तत् सर्वथाऽस्मत्केशस्यमीपां स-मा
 र्गव्यवस्थापने न कश्चिदुपायः प्रतिस्फुरति, अतः ‘ किं कुर्महे ’ इति विवादवचनं ।
 इवमत्रैदम्पर्यं—महासत्त्वसत्त्वरोपादेयो ह्यय सद्धर्मः, एते चातिह्वीयाः अथवा किं विदुषां
 गच्छस्थितिमिया ?, यदि हि लिङ्गिनः स्वतामाविहेतुना गच्छस्थितिं दर्शयन्ति, तथापि
 गृहिणा परीक्षापूर्वं धमः प्रतिपत्तव्य इति वृत्तायः ॥ १४ ॥

इदानीं कस्यचिदयोः स्था—वार्धपदप्राप्त्या तद्सम्बन्धितप्रदर्शनेन भुतावस्थां ज्ञाययन्नाह—

सुत्क्षाम किञ्च कोऽपि रक्षसिगुरुः प्रमथ्य चेत्ये कंचित् ॥ १५ ॥

व्याख्या—‘ सुत्क्षामः ’ पुष्ट्या धीगकुक्षिः गृहस्थाभ्याप्यां, किञ्चित् सम्भावन,
 कोऽपि—अज्ञातनामा ‘ रक्षो ’ मिथ्याकोऽय एव कृत्सितोऽनुकम्पितो वा ‘ शिशुको ’ बालः,
 “ इत्सायामनुकम्पनं वा कः ” । ततो रक्षयासौ शिशुकवेति कर्मधारय । रक्षस्य वा

कस्यचित् शिशुक इति, प्रत्यय-गुणहीभूय 'चत्ये' लिङ्गिगम्बन्धिभिनगुहे, कश्चि-
दनिर्दिष्टान्मिन् 'कृत्वा' विधाय लब्धादिना कश्चन कमपि यद्गमूल वतीचांसं यति भावकं
वा पद्यं सहाय, न साहचर्याहाय्य विना साहचर्याम्-आचार्यपदलामसम्भवः । 'अक्षतकस्मि'
यत्किञ्चिभिचिमात्रं प्राप्य शिष्टादिभिः सह निरयमस्वण्डितकलहः 'प्राप्त' आसादित
[स्तन्]वान् सन् (1) तदिति विचकिनां विद्वम्बनास्पद 'आचार्यकं' आचार्यस्व-छरि-
पदमित्यर्थः । 'चित्रं' अकृतमेतत् 'चैत्यगृहे' द्बमवने 'गृहीयति' गृह्णन्वाचरति, यथा
निजगृहे गृही क्षयना-सन-पान-सम्मोग-ताम्बूलमक्षयादिक निजगृहे समाचरति,
तथाऽयमपि । तथा 'निजे' स्वकीये गच्छे 'कुटुम्बीयति' कुटुम्बइवाचरति, यथाहि गृहस्थः
कुटुम्बे पर्वदिनेषु दानानुप्रदानादिषु प्रवर्त्तते, एव एषोऽपि साधुमाश्रयादि बर्मे तथा
प्रवर्त्तमान एवमुच्यते । यदि वा आचार्येण हि स्मारणधारणादिपूर्वक प्रत्युपेक्षणप्रमार्जन
शिष्याभ्ययनाध्यापनादिनोचरोचरगुणस्थानाधिरोपयेन स्वगच्छो नित्यमेवेक्षणीयः यथा
दोष च शिष्यणीय इति सिद्धान्तस्थितिः । यथा गृही द्रष्टव्यार्जनगृहकर्मादिकरणदशं
पुत्रादिक बहुमन्यते तदन्व चावमन्यते तथा गच्छमश्याद्विभामनादि श्रुभूषाकारिणं
सदोषमपि भूषयते तदन्व च सपुत्रमपि हूषयति, इति गृहीकुटुम्बप्रक्रियावर्त्तित्वाद् तथा
अभिधीयत इति । तथा 'स्वं' आत्मान 'क्षत्रीयति' क्षत्रमिच-पुरन्दरमिवाचरति, सदि
नीचत्वात् तथापिचैत्यगृह्य-शिष्यभावकादि-समुद्दिदर्शनात् उ-मविष्णुः शक्रोऽमित्त्व
मिमन्यत इति । तथा कृतिपयश्चासिद्धान्तश्च तथा 'वालिशीयति' वालिशानिच-सूत्रा
निवाचरति 'बुधान्' विचक्षणान्, महमेव सकलशास्त्रपारंगामी किममी अज्ञा
विवन्तीति । तथा अतएव विश्वं 'वराक्षीयति' वराकमिच-रक्षमिवाचरति । अयमा
श्रयः-ईश्वरो हि कश्चित्प्रत्यय प्राप्ताचार्यपदः सन् निर्विकृतया कश्चित् चैत्यगृहादिषु
गृहीयतीत्यादिक विद्वन्नामोऽपि न तथा लोकानां चित्रीयते, गृहवासेऽपि लोकेस्तथा
दर्शनात्, अथ तु रक्षुशिष्टुर्दीक्षित्वा छरिपदासादनन तथा कुर्वन्ने अनानाश्रुपदास
विषयतया महदाश्चर्यमाजनं, तद्वहो ! ! अत्यन्तमाचार्यादिमनुषितचैत्यगृहे गृही-चरय
दिना असचेष्टितेन भुतपथावज्ञा पापानां मलिनयति प्रवचनमिति वृत्तार्थः ॥ १५ ॥

सम्प्रति पुत्रपित्रादिसम्बन्ध विनाऽपि इठाच्छिङ्गितलोकवाहनोपालम्भद्वारेण
भुतावज्ञा प्रतिपादयन्नाह—

वैजतिं न च बर्हिती म च न च कीवोऽवमयो न च ॥१६॥

व्याख्या—यैः लिङ्गिमिरय जनो न च ज्ञातो, जनरान्तरमावितेनर्षत्वात्-न
जनितः-पित्रादिरूपतया न जन्म लभितः । चकाराः सर्वेऽपि समुच्चयार्था अवधारणायां

ना । अयं माभूत् क्षातस्तथापि बर्द्धितो मविष्यति, एतावताऽपि बलात् तद्वाहनसिद्धिः
 अत आह—बर्द्धितो न चेति, एतदुत्तरपदम्प्याशङ्क्य योजनाना कार्या, बर्द्धितो—योगक्षेमादि
 सम्पादनेन क्षरीर—पोषं प्रापितः । न च 'क्रीतो' मूल्यदानेनापस्मात् गृहीतः । अधमर्णो
 न च, उधमर्णस्रकाद्यात् उद्धारादि प्रयोगणार्थगृहीताऽधमर्षः । अत्र च यैरिति कर्तृत्वया
 सम्बन्धानुपपत्तेर्येषामिति सम्बन्धविषयया यच्छब्दो योज्य, अर्थबन्धादिमक्तिपरिणाम
 इति न्यायात् । तेन यथा लिङ्गिनाम्य अनोऽधमर्णोऽर्थधारयिता न भवति, एतदुत्तरश्रापि
 पयासम्मव येषामिति सम्बन्धनीयं । तथा येः ' प्राक् ' पूर्वं दृष्टोऽवलोकितो न च,
 अधमर्षः—ये लिङ्गिभिः स्वभावाद् इरेदेषवर्तित्वात् कदाभिदपि न दृष्टास्तेऽपि स्वगच्छग्रह
 प्रस्तत्वादन्य गुरु वाचाऽपि न सम्भाषन्त, तमत्र गच्छगुरु ष्यायन्तः कालमति
 बाहयन्ति । ' वाच्यः ' पितृव्य-भ्रातृव्यादिसम्बन्धमागू न च यथा न च ' प्रेषान् '
 बलमतरो मेभ्यादिमन्व-धेन, न च ' प्रीणितो ' दानज्ञानातिशयादिना सोपितः,
 तेरेव प्रागुक्तसम्बन्धमाधेन लोकवाहनयोग्यताधिकलैलिङ्गिमिरव । " एव इत्यव्ययमिह
 परिमधे ईपदर्थे वा " । एतच्च महापरामर्शोऽप-यत् तादृशैरपि लिङ्गिमिलोको बाह्यत
 इति ' बलात् ' इडेन, न तु प्रणयेन ' वाच्यते ' वधीकृत्य स्वकार्याभि कार्यते ' अय '
 गच्छमहाग्रहगृहीतः प्रत्यक्षोपलम्पमानो ' जनः ' भ्रातृलोको ' नस्योतो ' नास्ति क इव
 ' पशुवत् ' रूपमादि इव लिङ्गिभिस्त्वक्तसम्बन्ध विनाऽपि यद्व लोको बाह्यते तन्महा
 परिमव इति, नमूक्तसम्बन्ध विनाऽपि सद्गुरुत्वेन तेषां नस्तितपशुवत्लोकाः कार्याभि
 निर्मापविष्यन्ति, न अनुपकृत-परहितरतानां गुरुणां धमदानोपकारस्य प्रत्युपकारः
 कर्तुं शक्यते, अत आह—अत्यधमाधमैरिति, लोकलोकोत्तरगार्हितवम-साध्वीप्रतिसेवा
 देवद्रव्यमद्यम-सुबिहितघात-शासनोद्वाहप्रसृति-शूरिपापकर्मनिर्माणात् अतिशयेनाध
 मेभ्योऽपि-दीनज्जार्थीयेभ्योऽप्यधमैर्हनिः, अतः कथमेपां सद्गुरुत्वया लोको बाहनीयो
 मविष्यति, अर्थविधेः एभिः कथं तर्हि बाहयितुं लोकः पार्यते ? अत आह—' कृतमुनि
 ष्याधैः ' प्रपञ्चधतुरतया विश्वासीत्यादनेन सुगधजनस्य विप्रलिप्सया रचितशान्तरूप
 मासोपवासकरणादि छदभिः । अयमर्षः—एवमसमञ्जसकारिणोऽपि लिङ्गिनो विभ्रम्
 हेतु तथाविधपरिहृत्प्रदर्शनेन सुकरपपरूपणेन च सुस्तसुघान् सुगवान् प्रलोम्प यधेच्छ
 बाह्यन्तीति । अमुमवार्थं समर्थयितुं प्रकारान्तरण लोकवाहनप्रतीक्षारमसम्भाषयन्
 सविवाद वैधर्म्येषां न्तर्न्यासमाह—' नीराजक ' विगतमहासैम्य-न्यापरहित-प्रजादुष्ट
 शिष्याशिररथा-विचक्षणभूप । किं राजसहितमपि नीराजकमिव नीराजकमुच्यते ? हा इति
 विवादे, वग-इ सुवन, न अन्ययोदिता गुणमादि-राजनि बलालोकवाहन कर्तुं शक्यते ।

अयमाद्ययः—यथा सगुण रामानं विना तदेषः प्रतिभूप—मल्लिभुवादिभिः उपब्रूयते एव
सम्प्रति प्रौढसातिष्ठय—बहुसनापेक्षणीय—गणधरादि पुठपसिंहधिरहाक्लिभिरय आह्वयनो
वासत इति वृत्तार्थः ॥ १६ ॥

अधुना लिङ्गिनां वैशसं दृष्ट्वाऽपि कदाग्रहात् तत्प्रथित—कापयात् अनिबर्चमाना
न्मुहान् दिग्भूत्वादिना विकल्पयन्नाह—

किं दिग्भूमोहमिठाः किमम्बधिराः किं योगचूर्णीकृताः ॥ १७ ॥

ख्यासया—किं शब्दाः सर्वेऽपि विकल्पार्थाः, किमपी नवा दिग्भूमोहः—कृतमिद्
दृष्टादि निमित्तात् प्राण्यादि दिष्टु प्रतीक्यादिभ्रमास्त मिठाः प्राप्ताः । अयमर्थः—यथा दिग्-
भूढाः प्राची प्रतीचीत्वेनाभ्यवस्यन्तो लोकेन युक्त्या ज्ञापिततत्रा अपि तदव्यवसायात्
न निबर्चन्ते, एवमेतेऽपि विदितकूपधदोषा अपि कृतोऽपि हेतोरनिबर्चमानाः तस्याभ्यास
शोच्यन्ते । किमम्बा—नयनहीना 'बधिरा' उपहृतभवजाः, अन्ध्याम् बधिरायेति इन्द्रः,
ते किमम्बाः किं बधिरा इत्यर्थः । यथा अन्धा दृग्बिहस्तत्वात्सम्यक्त्वानम् अज्ञानाना
अपयमपि सत्यवतयाऽवगम्य तत्र गच्छन्तो हितैषिणा तत्र ज्ञाप्यमाना अपि स्वग्रहात्
न निबर्चन्ते, यथा बधिराः श्रुतिबिहस्तत्वात्कर्णयन्तो दृष्टवैतालिङ्गादि बधो निन्दार्थः
स्तुत्यर्थतयाऽवगम्य तद्वानादौ प्रबर्चमानास्तत्र बोधिता अपि स्वनिर्भ्रमात् न निबर्चन्ते,
एवमेतेऽपि सदोषमपि कूपय स्वगच्छादिग्रहात् निर्दोषितयाऽवबुध्य ततोऽनिबर्चमानास्त
शोच्यन्ते । एवमुत्तरपक्षेष्वपि मावनीयम् । तथा किं बधीकरणादिहेतुरनेकद्रव्यमेकका
पादप्रलेपादिर्योगः, तादृगेव नयनाज्ञानादिभूर्भू, योगस्य चूर्णं च, त विद्यते येषामिति विग्रहे
तदस्यास्तीतीम् । अयोगचूर्णीकृताः योगचूर्णीकृता, अभूततद्भावे च्चिः । मस्तकादिषु
योगचूर्णक्षेपेण बधीकृता इत्यर्थः । यथा केनापि भूत्वेन क्षिप्तयोगचूर्णाः पुमांस आत्म
नोऽहितैषिणमपि तं हितैषितया मन्यमाना केनापि तत्र प्रत्याप्यमाना अपि योगादि
प्रमायेज 'तद्वचनकरणात् न निबर्चन्ते, तथैतदपि कूपयादिति पूर्वमतम् । किं 'वैवेन'
प्रतिकूलविधिनोपहताः—सबुद्धिर्भ्रंशं प्रापिताः, तेहि विधिवद्वेन विपर्यस्तमतित्वात्—
अकृत्यमपि स्तेयादिक कृत्यतया मन्वानस्त्वन्ने प्रतिपाद्यमाना अपि बुद्धैवमादिम्ना ततो
न निबर्चन्ते, तथैतेऽपि । किं अज्ञेति—पार्श्ववर्षामन्त्रम्, ठकिता—मन्त्रादिप्रयोगेण, स्वाय
चीकृता, यथाहि केचन केनापि दुरमान्त्रिकेण बधीकरगमन्त्रेण तदाकृताः तद्वचनमत्पन्वं
समीचीनतयाऽभ्युपगच्छन्तः तत्रमवगमिता अपि मन्त्रमादिम्ना न ततो निबर्चन्ते, एव
मेतेऽपि । किञ्चेति पक्षान्तर । 'ग्रहे' भूतादिभिः 'अपेक्षिताः' कृतापेक्षा—विहितशरीरा

पिष्टाना इति यावत्, यथा भूताद्यभिष्टिताः सदावेशात् विधेयापरिज्ञानेनाभिधेयमपि पिष्ट
 प्रहारादिकं विदधानास्ततो निवर्ष्यमाना अपि न निवर्षन्ते, एवमेतेऽपि सवसद्विवेक
 विकलतया कृपयात् न निवर्षन्ते इति । अत्र च दिक्मूढादि बहुविकल्पप्रदर्शमापुनिकमाद्
 लोकाणामस्यन्तानिवर्षये स्वगच्छग्रहग्रस्तस्वज्ञापनार्थं । 'कृत्वा' विधाय 'मूर्ध्नि'
 पक्षं 'भूतस्य' सिद्धान्तस्य, सिद्धान्तोक्तातिक्रमेण निश्चलकृतया स्वगुणल्लिङ्गप्रवर्धिता
 सन्मार्गपोषणमेव भूतमूर्ध्निपादकरण, यतः "नचि किञ्चि" स्याद्यागमसकलस्य इदसु-
 चराह—“एसा तेसि आषा, कस्से सचेण होयह” इति । अस्य चायमर्थः—एषा भग
 वतामाहा, यत्कार्ये सत्येन मवितव्य, कोऽर्थः ? कार्य—ज्ञानादित्रय, सत्य च संयमः,
 यथा यथा ज्ञानादिकं संयमस्योत्सर्पस्वघातया यतिना निर्मायं यतितव्य, यदाह—“कलं
 नापार्हयं, सर्वं पुण संभमो सुपेयसो । बह बह सो होइ यिरो, तह तह कापवयं कुणसु
 ॥ १ ॥ दोसा जेण निरुन्झति, जेण स्त्रिजति पुहकम्माइ । सो सो सुक्खोवाओ, रोगाव
 स्यासु समणं च ॥ २ ॥” न चागमे सुखलिप्सया किञ्चित्प्रतिष्ठ, किं तर्हि ? यावता
 चिना संयमज्ञानादि यात्रा नोत्सर्पति तावत्मात्रस्यैव विहितनिवारणस्य निवारित
 विधानस्य च भगवद्भिः पुष्टालम्बनेन कादाचित्कतया तत्रानुष्ठानात् । एव च कथं भूत
 स्याभ्यवस्था ? भवदस-मार्गस्य चौरेशिकमोत्रनादेः सर्वस्यापि सार्वदिकतया निश्चि
 त्तत्वेन केशलसुलानुमबोदेक्षेनैव प्रवृत्त । तथा च तस्य महासावयवत्वेन ज्ञानादियात्रा
 दात्रापमापत्वात् कथं प्रामाण्यमित्याह—अकलितगुणदोषविभागः, स्वपञ्चानुरागो यस्या
 मासानां मङ्गलवन्मतस्याभ्यवस्थाऽऽपादनेन स्वमतस्योरकर्षप्रदर्शन । किञ्च—तीर्थंकर
 पूर्वधरादिसातिशयमहापुरुषविरहे सम्प्रति सिद्धान्त एव नः प्रमाण । पट्टक—“एव पि
 अह सरण, ताणं चक्खुं मई पईवो य । मयव सिद्ध तो धिया अचिरुदो इह इह्दि
 ठ्ठेहि ॥ १ ॥” तस्य च प्रामाण्यानभ्युपगमे तत्प्रयेतुर्मैगवतोऽप्यप्रामाण्याभ्युपगम
 प्रसङ्गेन भवतस्तन्मूल रजोहरमादिषेपपरित्यागापत्तिः, तथा चायं सुलाभया भव
 स्करित्तः पथाः सर्वोऽपि विरुद्धसत्ते, एव च लिङ्गिनां भूतस्य मूर्ध्नि पादकरणमनु
 चित्तमपि ज्ञात्वा यदमी प्रत्यक्षगोचराः भावक जनाः सुहृद्गच्छग्रहग्रन्थयो 'दष्टोक्त
 दोषा अपि' साधारणकृतगुरुतरपूर्वोदितकृपयापराधा अपि, महददोषा हि विवेकिनोऽपि
 कृपयादपि न निवर्षित्तमीशते, किं पुनरन्य इत्यपि द्रष्टार्यः । 'व्याहृति' अपसरण
 'कृपयात्' कुमार्गात् 'बडा' स्तहितादितिविवेकशून्याः 'न दधते' न येतसि धार
 यन्ति न कृप-तीत्यर्थः । न केशल व्याहृति स्वयं न दधते 'अद्यपन्ति च' ईर्ष्यन्ति,
 सगुण्येऽपि दोषमारोपयन्तीति यावत् । चः समुचये । एतां कृपयव्याहृतिं करोति, एतत्

कृत तस्मै, “कृष-दुहेर्येत्पादिना” चतुर्थी, महासन्वाय कस्मैचित् कृषव्याहृतिविधाविने ।
अत्र चोत्तरवाक्यार्थगतत्वेन प्रयुज्यमानो पञ्चम्यस्तच्छब्दोपादानं विनाऽपि त्वर्षे
गमयति, तेनायमर्थः—तेषां हि दृष्टव्योपस्थात् कृषपात् तावत्स्वयं व्याहृतिः कर्तुं युक्ता, अथ
कृतोऽपि हेतोः स्वयं न व्यावचन्ते तदा तद्व्याहृतिकारिणि प्रमोदो विधातुं सङ्गतः,
यत् पुनरमी द्वयमभ्यादेकमपि कर्तुं नोत्सहन्ते, प्रस्तुत कृषवनिहृतिविधाविनि कस्मिंश्चित्
एकस्मिन्नपि ह्युपद्रवाय यतन्ते, तस्मिन्ममी दिङ्मोहमिता इत्यादि बोध्यं, तेन
एतदुक्तं भवति—दिङ्मूढादयो हि हितैषिणा व्याहृतमाना अपि दिङ्मोहवशादेव्याहृति
मात्रमेव न कुर्वन्ति, एते तु न केवलं कृषपात् न व्यावर्ष्यन्ते यावता कृषव्याहृतिकारिणे
अक्षयन्त्यपीति तेभ्योऽप्यमी कृत्सिता इति वृत्तार्थः ॥ १७ ॥

साम्प्रत लिङ्गिदेशनया भ्रातृरविधिहृतस्य भिनमज्जनस्यापि दुर्मतिपाठहेतुत्वं
प्रतिपादनद्वारेण भूतपचावर्णां दर्शयन्नाह—

इहावासितुष्टमिदन्तमत्वेतकपेदककुष्ठं ॥ १८ ॥

व्याख्या—‘भिनमज्जन’ ममवद्विभ्वस्नात्रं कर्तुं ‘जनपत्येव’ सम्पादयत्येव,
नतु कदाचित् न जनपत्यपीत्येवकारार्थः । ‘अपपञ्चे’ पापकर्दमे ‘निमज्जनं’ तुहनं कर्म,
तत्कर्तुं नामितिशेषः । अथ कथं पुण्याय विधीयमानं भिनस्नात्रं पापपङ्कनिमज्जनाय
प्रभवति इति आह—‘अविधिना’ सिद्धान्तोक्तक्रमविपर्ययेन, प्राक्तनविशेषणान्पचाऽनुप
पत्त्या रात्रादित्यर्थः, सिद्धान्ते हि रचन्यां भिनस्नात्रं निवारितमतस्तत्र तत्कर्षतां कथं न
पावकमित्यर्थः । अथ क्व दोषमभिप्रेत्य सिद्धान्ते रात्रिस्नात्रनिवारणमिति दोषप्रदर्शनाय
हेतुगमं विशेषणत्रयं मज्जनस्याह—इशावासि इत्यादि, इशाया—पञ्चमाया मज्जनदर्शनमिदं
गागताया ‘अवाप्ति’मेलकस्तया तुष्टा—निवृत्तमन्त्राद्य नः सुरतलीला प्रवर्त्यतीति पिया
सुदिता ‘पिता’ पेशपापतयः ‘मटा’ नाटकामिनयकलोपजीवितः ‘मट्टा’ शस्त्रादिकला-
नीविनः ‘चेत्का’ मासादि—निपमितपृथिव्यादिणः, एषां ‘पटक’ समुदायस्तेना—‘कूल’
धूमिष्ठ, प्रेषसी प्राप्ता सास्त्रिक्रमावना कूलीकृतविटादिमनाकीर्णत्वात् मज्जनमप्युपचारादाकृतं,
तथा ‘निधुवनविधिनिबद्धोद्दा’ मोहनविलसितविदितामिलापाः या ‘नरनार्यः’ पुरुष
योपिताः तासां ‘निकरेण’ निषयेन ‘सङ्कल’ व्याप्तं । नारीणां प्रायो निधुवनार्थमेव मज्जनात्
लोकनलघना तत्र गमनात्, तथाविधस्यामन्तरेण रात्रौ तत्राप्यागमनासम्भवात्, तथा
विषम्याजेन चान्यत्र गन्तुमशक्तत्वात् । अथ एव ‘रागः’ कश्चित् परत्री प्रत्यमिष्वङ्गः ‘द्वेष’
स्वप्रीमन्थेन सह सङ्गच्छमानां पश्यतः तज्जिषांसा ‘मस्तवः’ कश्चित्तो माग्येन कयाचित्

सङ्घटमानमालोक्यतः स्वयं च तां कामयमानस्य तत् सौभाग्यव्यवेच्छा 'ईर्ष्या' स्वयं
 ह्यमामन्वेन साहं सलपन्तीमीदृशमाशस्य असहिष्णुता, ततो रागभेत्स्यादि इन्द्रा, तामिः 'घनं'
 सान्द्रं, अत्रापि-रागादिमल्लोक्षणत्वात् मजनमप्युपचारात् तथा, काण्डकलोकमेलके हि जिन
 गृहेऽपि मिथ्यायां रागादप्येषोऽङ्गुम्भते, न त्वस्यापि धर्ममावना, तस्मात् दिन एव स्नात्रं
 धर्माधिनां भेयो, न रात्राभिति। अत्र कैश्चित् उच्यते-रात्रिस्नात्रे न कश्चिदोषः, अिनप्र-ममज
 नस्य ध्वङ्गेण तथाभिधानात्, तथाहि-सर्वेऽपि जिनेन्द्रा रात्रियामद्वयसमय एव ज्ञापन्ते,
 तदैव सुरेन्द्रा मेरुगिरिशिखरं नीत्वा तान् स्नपयन्तीति भूयते, तस्म च तथा स दोषत्वे
 ध्वङ्गः तथा न कुर्वीत, तस्मादिन्द्रा चरितप्रामाण्यात् निष्ठायामपि स्नपन विघातव्यमिति
 चेत् न ध्वङ्गो अिनमज्जनं मेरो करोतीति मन्यामहे, न तु यामिनीयामद्वितीय इति, मेरु-
 शिखरे सूर्योद्गवास्तमयामावेन रात्रिदिनव्यवहारामाभात् । कथं तर्हि प्रकाशामावे तत्रे
 न्द्रामां जिनमज्जनादिभिचिरिति चेन्न, रत्नसूक्तस्य निरस्ततमाःस्तोममपूपघोतेन विमल-
 यापिद्वयद्विक्रामरीचिनिचयन देवमहिम्ना च निरन्तरं मासुरत्वात् । एवं च इन्द्राचरिता
 वष्टम्भेन क्व रात्रिस्नात्रं समर्प्यमानं सङ्गच्छते ? आदानां त्रिसर्पं जिनपूजाया दिन
 कृत्यत्वेन सिद्धान्तेऽभिधानात् । तत्र च " विधि-किरिया विशद्वा " इत्यादेरयमर्थो-यः
 प्रमादादि-संभ्यायां ह्यतिनिमित्तवाभिज्यादि व्यप्रत्वात् कथञ्चित् देवपूजायां न व्यापियते
 स दिनमध्ये एव सप्तर्षादिना संख्यातिक्रमऽप्यपवादतः पूजां करोतु, न पुनरस्यायमर्थो,
 पदुवापवादेन रात्रौ करोति, दिनकृत्यता हानिमसङ्गात् प्रभूषायतनाकरमादि दोषप्राप्ते-
 भेति । एतेन रात्रौ अिनसहने बलि दान-नन्दि-प्रतिष्ठादि-विधानमपि निरस्तं, प्रायो मज्ज
 नेन समानयोमक्षेपत्वात्, निशिस्नात्रोक्तदोषार्था बलिदानादावपि सम्भवात् । तथाहि-
 दीक्षाद्यर्थे नन्दिकारणं, दीक्षा च स्थूलसूक्ष्मप्राणातिपातविरचित्त्वत्वा, रात्रौ च प्रकाश
 निमित्तव्यलितसूरिदीपरूपतेजस्त्रयिकर्माणां स्वयं क्षरीरस्पर्शनेन व्यापादनात्, प्रदी
 पेऽ च सतत निपततां पतङ्गादि वन्तुनां व्यापचिमाभात् । कीदृशी दादुगुहीश्रोः
 सर्वविरतिः ? । त्रिप्यस्य दीक्षाप्रथमखलाशाराम्य प्राणातिपातप्रवृत्ता, दीक्षादातुश्च दोष
 सङ्घातपि वक्तु न शक्यते, तच्छिष्या तापज-तुभातव्याघातप्रवृत्ताः । सद्ब्रह्मो !! मूढा !
 एतावन्तं पापकलापमात्म-पारोपयन्तो मात्रिमदभ्रममात् मनागपि न विभ्यन्तीति । किञ्च
 दिवसे दीक्षादित्गनबलाभावे रात्रौ च तद्भावे विहारक्रमवृत्तपवादेन कदाचिद्वात्रावपि
 नन्दि विद्वेषतां को दोषः ? इति चेन्न, विहारक्रमस्यापवादेन रात्रावपि प्रतिपादनात् तत्र
 कदाचिन् तस्कारणं पुक्तं, नन्दिविधानस्य चापवादान्प्यागमे रात्रावमभिधानात् कथं तद्वि-
 धाने तत्र सङ्गच्छेत् ? । किञ्चापवादिक कृत्यानां रात्रिविहारकमादीनां सर्वेषां प्रापञ्च

ममिहितमागमे, न च निश्चि नन्दिषिषानस्य ततोऽवगम्यते—नास्त्वपवादेनापि रक्षन्तं
 नन्दिषिषान, एष निश्चि क्षिनप्रतिमा प्रतिष्ठायामपि सकलमेतद् रूपगजात् विविच्य वाच्यं,
 तदुक्त—“ प्रादुषदोषपोषायां, दोषायां साध्यन्ति ये । क्षिनविम्बप्रतिष्ठां ते, प्रतिष्ठां स्वस्व
 दुर्गतौ ॥ १ ॥ ” तदेव दोषकलापदर्शनाद्वाश्री मज्जनादि विष्ठापिनां वापपञ्चे निमज्जनं
 भवतीति वक्ष्यस्यते । इत् वक्ष्यमाण च वृत्तद्वय द्विपदीच्छन्द इति वृत्तार्थः ॥ १८ ॥

माम्प्रत प्रसङ्गेन मज्जनात् अन्यस्यापि घर्मच्छन्दस्य संसारनिमित्तत्वं प्रकटवन्नाह—

क्षिनमतविष्टुम्बविहितमहिताय न मज्जनमेव केवलं ॥ १९ ॥

व्याख्या—‘ क्षिनमतविष्टुम्बविहितं ’ भगवद्भागवतैपरीत्य—निर्मित ‘ मज्जनमेव ’
 स्तपनमेव ‘ केवल ’ एक ‘ अहिताय ’ संसाराय न भवति—स्नानमेवैकं अविधिबिहितं
 संसारकारणमिति नास्ति, किन्तु किं तर्हि ? तस्यैव घातदोऽष्टमकर्माभि चानेनेति तपो
 ज्ञानादि, तथा ‘ चरित्रं ’ तर्षविरतिः ‘ दान ’ पात्रेषु न्यायाभित्तुशुद्धमकादिवितरणं,
 आदिशब्दात् पिनयवैष्यावृत्तपादिग्रहः, तवस्तपश्चेत्यादि द्वन्द्वगमो बहुव्रीहिः । तववैषमा
 घप्यनुष्ठान क्षिनमतवैपरीत्य विहितं, न केवल मज्जनमित्यपि शब्दार्थः । ‘ न खलु ’ नैव
 ‘जनपति’ सम्पादयति ‘क्षिपकल’ सुक्षिरूपं फलं । अथ कस्मादेव ? इत्यत आह—‘हि’
 यस्मात् ‘अविधिबिधिक्रमान्’ सिद्धान्तानुक्त—तदुक्तप्रकारेण ‘ क्षिनाज्ञाऽपि ’ मगवच्छास
 नोक्तानुष्ठानमपि ‘ अष्टमश्रुमाय ’ अभेयः भेयसे, इद्रेकवज्रावादभैकवचन । ‘ जायते ’
 मस्यघते, यथासंख्येयनाश्र योजना, तनायमयः—किल क्षिनपूजा—तपःप्रसूतिप्रवचनप्रसिद्धे
 क्षिनाज्ञा, भगवता निःभेयमयाभनस्वेनाज्ञापितत्वात् । तथा च तदप्यविधिक्रमेण—“ काले
 मुद्रमूषण ” इत्याद्युक्तविधिविपर्ययक क्रियमाणमश्रुमाय भवति, विधिक्रमेण तु संप्यात्र
 या—राधनशुचिभूतस्वादिना तदेव श्रुमाय । विष्यविधिम्पां भगवदाज्ञाऽऽराधना—नाराधन
 योरेव मोक्षसंसारफलत्वात् । किं पुनरित्यादि वाक्य काका योर्न्य । अत्र च किमित्वा
 धेये, पुनरिति वाक्यमेदे, इति प्रकरणे । तनेपा प्रकृषारात्रिमज्जनादिका क्रिया ‘ विहम्ब
 नैव ’ प्रवचनापभाजनैव—लोकोपदामास्पद, न स्वेषा क्षिनाज्ञाऽपीत्येवकारार्थः । ‘ अहित
 हतुः ’ संसारनिवृत्तं ‘ न प्रव्यापन ’ न विस्वायत, किन्तु अहितहेतुत्वेन प्रख्याप्यते
 एव, इदमुक्तं भवति—क्षिनाज्ञाऽपि तथाप्रसूतिका आपदादिका—भाकर्ममोक्षनादिका वा
 यदा अविधिना विधीयमाना भवकला तदा किं पुनरस्या विहम्बनायाः—सर्वथा क्षिन
 वचनपाद्याया रात्रिमज्जनादिकाया वक्तव्य ? सुतरामेवा भवहेतुरव, अतोऽहितहेतुत्वेन

प्रकृष्याप्यते येन सा तथा प्रकृष्याप्यमाना कस्यापि पुण्यात्मनः स्वतो निवर्तनाय प्रभवतीति वृत्तार्थः ॥ १९ ॥

इदानीं निर्वाणकारणमपि निमग्नोऽपि जिनगृहादि निर्माणेण गृहिणः कृतवादि निर्दोषस्वाप्यनुबन्धात् भवद्देशे भवतीत्येतत् प्रदर्शनायाह—

जिनगृह-जिनविम्ब-जिनपूजन जिनपात्रा-दि विधिपूर्व ॥ २० ॥

व्याख्या—‘जिनगृहं’ जिनमठन ‘जैनविम्ब’ भागवती प्रतिभा ‘जिनपूजन’ भगवत्प्रतिमायाः कृत्तुमादिभिः अम्पर्यत ‘जिनपात्रा’ जिनान् प्रतीत्या-टाहिका कस्याणक-रयनिष्क्रणादि महामहकरण, ततो जिनगृहं येत्यादिद्वन्द्वगर्भो बहुमीहिः, एवमुत्तरपदयोरपि । आदिग्रहणात् जिनचन्दनप्रतिष्ठादिग्रहः । इह चासकृजिनपदोपादानं भगवतोऽत्यन्तमकिगोचरतया तद्बुद्देशेन विधिना जिनगृहनिर्माणस्य परममुत्तमत्वं स्थापनार्थं, एवमादि धर्मकमजातमिति शेषः । ‘विधिना’ भुक्तोक्तेन प्रकारेण ‘कृत’ निर्मापित । तथाहि-जिनगृहनिर्माणविधिः शुद्धभूमिपरिग्रहादिकः, जिनविम्बे विधिना निर्मापिते प्रतिष्ठापित चाय पूजनविधिः-संस्था प्रये विधिना ह्युत्तमत्वा भगवत् विम्ब श्रद्धायात् पुण्यादिमिरर्चयति, तथा तत्र च कस्याणकादिदिनेषु पात्रा प्रस्तूयते, तत्र चाय विधिः-यथाशक्ति दान-उपकरण-शरीरविभूषा-जिनगुणमान-वादिश्रादिकरण । तथा ‘दानं’ भगवदानादि ‘तपो’ऽनघनादि ‘व्रतानि’ स्पृष्टप्राणातिपातभिरमजारीनि । आदिग्रहणात्-विधिप्रामिग्रहः । तथा च येत्यादि द्वन्द्वः । तथा ‘गुरोः’ भर्माचायस्य ‘मक्तिः’ उभूषा आगच्छद्भिमुत्तमगमनारिषठाऽम्पुरयान-गच्छद्भिमुत्तमगमन-विभाषणा-पिशुद्धमकपानादि दानविधानुरंजनादिकाः । ‘भुक्तपठनं’ सिद्धान्ताध्ययन । आदिग्रहणात् तदर्थभरणमननादिग्रहः । एतच्च विधेकिना विज्ञपेण विधेयं, एतत्पुरस्सरस्थासकृत्प्राप्तुक्तं जिनगृहादिकरणविधिप्रतिपत्तेः । यदाह—“अमेति पविचीष, निमघर्षं होइ विहिसमारंमो । सो सुषाउ नहर, हो ह पदप, पदपदं ॥ १ ॥ सुखा अत्ये जन्तो, अदिरायरो नहरि होइ कायहो । इतो उमयविमुदधि, सुयगं कबलं सुचमिति ॥ २ ॥” एतदन्तरेण समस्त स्यापि क्रियाकलापस्याभ्युक्तं साम्यापत्तेः । ततो गुरुमक्तिभेत्यादि द्वन्द्वः, चः सप्तम्ये । आहत सप्तमानं, न स्वपदलया । एतत्सकृत् जिनगृहादि-दानादि-गुरुमक्यापमुत्तान, किमित्याह- स्यात् ‘भवेत्’ इह प्रवचन, अनभिमतकारीति सम्बन्ध । कस्मात् अत आह- कृतवत्स्यादि, तत्र ‘कृतवत्’ परतिर्भिसमयानिदित क्रियाकृतम्बः आहपन्त्रस्योपराम-



सङ्क्रान्ति-माद्यमाणा-प्रवादानादि, ऋगुरु-सुखदेवनाकरमप्रबन्धः सन्मार्गदुसनवराकनो
 धार्मिकजनसुद्रोपद्रवतत्परः सुखलोलुतया यतिक्रियाविकलो जनविप्रतिष्ठितया दुष्क-
 क्रियानिष्ठोऽपि वा लामपूजास्मात्तिकासः कुतित्त आचार्यः, कुत्राहः-सिद्धान्तवाङ्-स
 मतिकल्पित-स्वाम्युपेतासत्पदार्थसमर्भ-नानुष्ठानगोचरो मानसोऽभिनियेषः, कुबोधो ऽन
 या ष्यवस्थितस्य मगमदागमार्थस्याज्ञानाद्विधिदत्तम्प्रदायामावादाऽन्वया परिच्छेदः,
 कुदेवना-धुतोकार्थानां संक्षयादज्ञानात् मिथ्याऽभिनियेषाद्वा वैपरीत्येन प्ररूपक, अत्र
 च ऋगुरुग्रहणेन कुदेवनालामेऽपि पृथगुपादानं तस्याः सकलेतरदोषेभ्यो महत्प्रज्ञा
 नार्थ, ततः कुमत्तं चेत्यादि द्व-द्वः, तासामद्यो-लेखस्वस्मात्, भास्तां कुमतादिभ्यः
 समप्रेष्यः, किन्तु तेषामज्ञमात्रादपि ' स्फुट ' इत्यकं निमित्तमिति यावत्, अनमित्त-
 फारि-अनिष्टविधायि दूरन्तसंसारकान्तारनिरन्तरपर्यटनकारणमित्यर्थः । ननु कथमेतानि
 गरीयासि धर्मकृत्यादि लेशमात्रेणापि प्रतिकुल्यन्ते ? नहि मुजालतन्तुना दन्तिनः प्रति
 षष्ठ्यु पार्यन्त इत्याशङ्क्य विमिश्रितार्थप्रसाधनानुगुणसुप्रमानमाह-' परमोजनमिष'
 स्तिग्ध-मधुर-सुखादजेमनमिव, इवेत्युपमानयोक्तकमव्यय । 'विपलवतिवेशतो' गरलक
 मक्षेपात् । अयमर्थः-ईदृशी हि विपकणस्यापि पारिणामिका लोकिर्यया ह्यमपि बह्वपि
 मोक्षन क्षणादेव सकलमसौ स्वात्मभावेन परिणमयति, तथा परिणमित च तत् सुख्यमान
 मपायाय जायते यथा, तथा कुमतादिदेशस्यापि मिथ्यारूपतत्वात्-एषविधो महिमा, येन
 महियोऽपि भिनगृहविधानादि धर्मकर्मस्वरूपतया भावयति, तद्भक्तिं च तद्विषीप
 मानमपि संसाराय मय्यद्यत इति, अत एव सम्बलबहुद्विदेवने कर्षव्यतया अभिहित
 न्यप्येतान्यसमस्तसङ्ख्या क्रियमाणानि तद्भाषापादकस्येन भुपन्त, यद्वाहुः श्रीहरिमद्र
 सूरयः-" पाण्यत इतल त्रिणयदिमा फारिया त व्रीधेहि । अशमप्रसविषीप, न य
 सिद्धो दसणलभो वि ॥ १ ॥ " तदेव विपलवसंभलिसमोजनोपमानेन भिनगृहादिविधा
 नस्य कुमतादि लेशस्यस्पर्शिनोऽप्यमित्तकारित्व ष्यवस्थितमिति वृत्तार्थः ॥ २० ॥

अधुना सुखजनार्कर्षणनिमित्त-अनविम्बप्रदर्शनादि द्वारेण लिङ्गिनां लोकप्रतारण
 दर्शयसाह—

आकण्डु सुख-मीनात् विद्वित-पिसितवत्-विम्बमादर्श्यं जेन ॥ २१ ॥

व्याख्या—आकण्डु सुखमीनान् जेनविम्बमादर्श्यं नाम जेनेर्ज्ञेनोऽय वक्ष्यते इति
 सम्बन्धः । तत्राकण्डुमिति स्वपद्यमानत्, न तु पुण्यमर्षयित्, सुखा-इयोपादेवविचार

छान्यतया धर्मभद्रालुतः त एव ब्रह्मप्रकृतितया स्वहितहितपरिहानपैक्यपसाधममति
मीनामत्स्यास्तान् 'बिम्ब' प्रतिमां 'जैन' मागन्तु 'आदर्श्य' दर्शयित्वा, यथा-मो मर्याः ।
ऐहिकामुष्मिभक्तुस्रविधानदधमिदमर्हद्विम्ब, ततः पूजयत भक्तयेति सामान्यतोऽप्यथा भव
त्पूर्वैः एतद्विम्बमार्हत निर्मापित, ते चेदमेव प्रत्यहं नियमेनापूजन्, ततो भवतिरूपीव
मेव विश्रयेण पूजनीयं, तथाऽर्हद् विम्बनिर्माणमेव सम्प्रति मधुसूक्तविनिपतजन्तुसारणा
पालमिति भवतिः स्वभेषसे नवीन मगधद्विम्ब स्वनाम्ना विद्यापनीयमिति विश्रयेतो
सुगन्धमनपुरतः प्रज्ञाप्येत्पर्यः । किल यतिना देवनाद्वारेण जिनबिम्बार्चनादे-गृहिपुरः
फलमुपवर्धनीय, तत्फललिप्सया तदनुमारेण गृहिणः स्वयमेव उत्करणादौ प्रवृत्तेः, न तु
साक्षात् तन्निर्माणनिर्माणभोरुपदेशो दातव्यः तदुपदेशस्य माषद्यतमा यतेर्नियेधात्, लिङ्गि
नस्तु कथमाजन्मामी गृहियोऽस्माक पश्या मविष्मन्तीति चिमा ऐहिकमेव स्वार्थं केषलं
चिन्तयन्तो धूर्त्तया पूर्वगुरुसम्बन्धितादि क्रमेण सुगन्धयो जिनबिम्बमादर्शयन्ति, ते तु
सुगन्धत्वात् तदाश्रयमनवगुण्यमाना श्रुतुभद्रालुतापूर्ववश्यस्नेह-स्वकारित-ममतादिना तत्र
जिनबिम्बादौ नित्य द्रव्य भ्ययते, लिङ्गिनश्च तदुपयुञ्जते स्वेच्छयेति भवति तदाकर्षणापै
लिङ्गिनां जिनबिम्बदर्शनमिति । किमिवेत्याह- 'बिडिष्ठ' मत्स्ववचन, तदग्रे मत्स्वविलो
मनाय स्थापित 'पिडिष्ठ' मांस, तद्वत् । षतिरुपमाने, तदिव । यथा धीवरा मत्स्याकर्ष
णाय बिडिष्ठाग्रे पिडिष्ठ स्थापयन्ति, त च सञ्जोक्ततया स्थापापमागामिनमविमात्रयन्तो
गम्भीरादपि नीराश्रयाभिर्गत्य सुगन्धत्वात् तत्र विलीयमाना भव्यन्ते, एव लिङ्गिनोऽपि सुगन्
धनानां स्वकश्यताविधानायोक्तविधिना मगधद्विम्बमादर्शयन्ति, न तु संसारनिस्तरणाय ।
ननु कथं जिनबिम्बबिडिष्ठपिडिष्ठयोरुपमानोपमेयमात्रः ? समानगुणयोरेवोमयोरुल्लार
मन्धपुपमानोपमेयमात्रप्रतिपादनात्, महाकृषिकाशेषेण तथैव दर्शनात्, अत्र तु जिन
बिम्बस्य सकलत्रिसुबनातिशायिनः सर्वोपमातीतत्वात्-अत्युत्तमवस्तुपमागोपत्वाद्वा,
बिडिष्ठपिडिष्ठस्य च सर्वात्यन्तहीनत्वात्कथं तेनोपमा ? उत्तममात्रस्यापि हीनमात्रेणा
प्युपमानोपमेयभावो न युक्त, किन्तुः सर्वोत्तमस्यात्यन्ताद्येन ? एवं च जिनबिम्बस्य
बिडिष्ठपिडिष्ठेनोपमानोपमेयमात्रप्रदर्शनं कवेर्महावापप्रमङ्गः, तत्सर्वथा मायमुपमानोप
मेयभावो घटां प्राञ्चतीति त(स्व)म। सोकाकर्षणेव स्वनिर्वाहहेतोलिङ्गिपरिगृहीतस्य जिन
बिम्बस्योत्तमस्याप्यसदुपाविश्रयात् दुष्परिहारपरिहृतरात्रादेरिव शान्तिष्ठतफलासापक-
त्वात् हीनताऽप्यारोपणोपमानेन साम्यापादनादुपमानोपमेयमात्रोपपत्तेः । अत्र चापवित्रेष
बिडिष्ठपिडिष्ठेनोपमानं लिङ्गिपरिगृहीतस्य जिनबिम्बस्वात्यन्तद्वेषता द्वापनार्थं, मागमेऽ-



तिहेयस्याधाकर्मदिः गोमांसादिनैवोपमानोपमेपदर्शनादिति युक्तवृत्तं 'विहितविहितवत्
 'विम्बमादर्श्यज्ञैर्'मिति । साम्प्रत प्रकृतमुपक्रम्यते—तथा 'तन्नाम्ना' जिननामधेयेन—
 भगवद्भाष्यागारनिमित्तमेवे निर्माप्यन्ते, नास्मभिमिचितमिति व्यपदेशेन 'रम्पकृषान्'
 छधिररचनया दृष्टवचनया च मनोहराकारान् 'अपवरका' अन्तर्गृहा 'मठा' निष्ठव
 विशेषास्ततो इन्द्रस्तान् 'स्वेटसिद्धौ' वयमेवात्रन्मसुखेन वस्याम इत्यात्माभिमवनिष्प-
 त्तये 'विचाप्य' कारयित्वा, ते हि श्रुताः स्वनिमित्तमपवरकारीन् निष्पादयन्ति वृग्वाच
 आनते—जिननिमित्तमित्यहो !! एतेषां जिनमक्तिरिति, तेषु ते रन्यन्ते तेषोपजीव्यन्त
 इति वचनप्रकारः । तथा 'यात्राः' पित्राद्युद्देशेन भवद्भिरभाटादिका कर्त्तव्या, अहृष्मिन्वा
 मासादावमुना भादेन भीमत्यत्र देशगृहे वात्राः कृतास्तस्माद्भवद्भिरपि तथैव विधेया ।
 तथा 'स्नात्रं' भाद्रपदादिषु पित्रादेः भेषसे युष्माभिरत्र स्नात्र कर्त्तव्यमित्युपदेश्यभाजेन
 यात्रास्नात्रविधापन, ततो इन्द्रः । आदिश्रव्याच्छ्रुतानुक्तपर्वप्रहः । तदावय 'उपाया'
 गृग्धविप्रलम्भनप्रकारास्तेः । ननु कपमेर्षविषयात्रादीनां गृग्धजनप्रतारकत्व ? यावता
 यथातथा भगवत्सूत्रायाः कृष्णसानुवचहेतुत्वादिति चेन्न, एव हि लोकोदाहरणप्रामाण्येन
 भगवत्सूत्राधिधाने भगवतोऽप्रामाण्यो(प)पादनन मिष्यात्वादिप्रसङ्गात्, यदुक्त-
 "मिदृग्मि विज्जमाये, उषिय अणुमिदृग्मपमणुषं । लोकाहरणं(च) व तहा, पपडे
 भगवतवयममि ॥ १ ॥ लोयो गुरुवरगो लल्ल, एव सह ममवजोषि इहोपि । मिष्ठ
 त्तमो य एष एसा आसायथा परमा ॥ २ ॥" तथा 'नमसितकं' उपयाधितक—भवता
 मिदानीमीदृगुपद्रवः समुद्यस्वित्तः तस्माद्भवद्भिस्तभिदृष्टये जिनयोत्रदेवताऽम्बिकादिद्या
 सनसुराणामियद्व्यपमेवणीयमिति गृह्यिणः प्रतिजिनाद्युद्देशेन विचम्बपविधापनमिति
 प्भवत् 'निष्ठावागर' उपसर्गवर्गोपलम्भनाय प्रवचनदेशतादीनां पुरतो वस्यादिस्थापन-
 गीत—वाद्यसास्यपुरस्तरं सकृत्तरात्रिवागरण । ततो इन्द्रः । आदिश्रवणावन्नेवामपि
 श्रान्तिकपोटिकानां सङ्ग्रहः । तदादीनि 'छलानि' छप्रानि—लोकोपजीवनाभंमाणमान
 मिहितस्वेन विसोमननिमित्तानीति यावत्, तैः करणभूतैः, चक्षुश्च उक्तवचनप्रकार
 समुच्चय । भद्रालु—विश्वेकविक्रमधर्मैच्छावान्, विश्वेकिनो हि प्रायेण नैवविधेः प्रतारभित्तु
 पार्यन्त । 'नामतः' संज्ञामात्रेण जैनै—जिनदेवतैर्न तु क्रियया, अष्टाचारस्वाधेवां, तेन
 तिक्रिमिरित्यर्थः । 'छठैः' प्रपञ्चप्रपञ्चनचतुरैः, छसित इधेसुपमान, यथा 'छठितः'
 श्राक्मिपादिभिर्ब्रह्मीकृतः तथाविधैतन्पराहिव्यास्तुखेन वञ्चयितुं शक्यते, तथाऽप—एव
 'वनः' भाद्रलोको हा !!! इति विषाद् 'वञ्चयते' विप्रलम्भयते, महानपस् अस्मभेतसि
 विपादो—यद्दर्माप्यो लोको पूर्वैः स्वार्थं वञ्चयित्वा दुर्गतो पास्वत इति वृत्तार्थः ॥ २१ ॥

साम्प्रत तेषां प्रत्यह सर्वविरतिरूपप्रत्याख्यानमङ्गकरणेन तपश्चरणाद्यमात्रं प्रति
पादयन्माह—

सर्वारम्भ-परिग्रहस्य गृहिणोऽप्येकासनाद्येकत्वा ॥ २३ ॥

ख्याख्या—‘सर्वारम्भ परिग्रहस्य’ सकलसाधयव्यापार धनधान्यादिसङ्ग्रह-तत्परस्य
‘गृहिणोऽपि’ भाद्रस्यापि, आस्तां महाद्युनरित्यपि शब्दार्थः । ‘एकासन’ अन्तर्दिशसमे
कवारनियमितमोक्षणः प्रत्याख्यातमेदः तदादिर्यस्य निर्बिच्छितिकादेः तदादिप्रत्याख्यान
‘एकदा’ कदाचिदष्टम्यादितिथियु प्रमादबाहुस्येन नित्यप्रत्याख्यानमाणात् ‘प्रत्याख्याय’
नियम्य, तदपि कदाचित्तकृतेकासनादि ‘न रक्षतो’ऽनामोगसहस्राकारादिना न पाठ
पठो-मह्यत इत्यर्थः । ‘इदि’ वेतसि ‘मवेत्’-आयेत ‘तीप्रो’ निष्कुरोऽनुतापो-बहुना
कालेन तावद्य प्रत्याख्यानं कृतं तदपि मया मन्दभाग्येन मग्नमतो चिह्मां, क्व मे
शुद्धिर्भविष्यतीत्येवंरूपः पश्चात्तापः ‘सदा’ सर्वदा यावद्भक्त-प्रायश्चित्तं गुरुभ्यो नासादयति ।
‘पट्टकस्य’ श्रीन् चारान्सायन्तनप्रतिक्रमणे । श्रींश्च प्रगेतनप्रतिक्रमणे पङ्कवारान् “सह
ख्याया चारे कृत्वस् तद्वितः” त्रिभिष त्रिभिधेति, अनेन सामापिकृद्भक्तपल्लयति, किल
सामयः सायन् प्रातश्च प्रतिक्रमणे सामापिकृद्भक्तपुचारयन्तस्त्रिभिष त्रिभिधेनेति पठन्ति,
यथा—“[करेमि मते ! सामाह्यं मर्षं सायजं भोग पञ्चस्त्वामि आशजीवाय, तिभिदं
तिभिदेणं मणेण वायाए काएण”मित्यादि] । सत्र त्रिभिषमिति तिस्रो विधा वस्येति
त्रिभिष-कृतकारितानुमतलक्षण, त्रिभिषति त्रिभिधेन करणेन मनोवाक्यारूपेण सावद्य
योगं प्रत्याख्यामि इत्यत्र रूपतया ‘अनुदिन’ प्रतिवासरं ‘प्रोच्य’ अभिधाय-प्रतिज्ञाया
पीत्यर्थः, अप्रतिज्ञातानुष्ठानस्य हि मन्त्रेनापि न तथा दोष इत्यपि शब्दार्थः । ‘मह्यन्ति’
खण्डयन्ति ये सिद्धमात्रवृत्तयः सर्वा । ‘तु’ गृहिणो भेदप्रदर्शनार्थः, क खण्डाः सर्वेऽप्य
धर्माव्यञ्जकाद्येपार्थाः । ‘तपो’ऽनघनादि, नित्यप्रत्याख्यानस्य सर्वसाधययोगविरति
रूपस्य सकललोकात्ममध्युपेतस्य मङ्गप्रदर्शनेन नैमित्तिकप्रत्याख्यानस्यापि कश्चि
छोक्तपङ्क्या विहितस्पोषसासादेः मह्यानुमानात्-नास्त्वत्र तेषां कश्चित्तप । क ‘सत्यवचनं’
तथ्यवाद् १, सर्वं सावद्य योग न करोमीत्यभिधाय पुनस्तत्खण्डमेव तन्निषेवणात्,
प्रत्यक्षमुपादादिताप्रसङ्गेनांशनापि सत्यवचनामाणात् । क ‘ज्ञानिता’ सिद्धान्तरास्य
परिच्छिद्यत् १, ज्ञानस्य दि फलं विरतिः तस्याय मातशीलतया तेः समूलमूलनात्
तथा च कश्चित्ततोऽपि ज्ञानस्याकिञ्चित्करत्वेन तदामासत्वात्, ज्ञानगन्धोऽपि तेषां
नास्तीति । क ‘घृतं’ दीक्षा, दीक्षापादानादपि प्रत्याख्यानमङ्गादस्तीकृत्वापनेन दीक्षाया

अपायकपापादनाद् अथ तेषां नास्ति । अत्र चासकृत्कण्ठ्वोपादानेन लोके लोकोचरे च
 तथः। प्रमृतेः तपस्त्वादिकं न सम्भवतीति ज्ञाप्यते, तेनापमाशयः—पदा किल गृह्णोऽपि
 सततं गृह्यन्मसंरम्भपश्चात्प्रमादभ्रनिर्भरा अप्यनङ्गततन्ना अपि कदाचित्प्रत्याख्यान-
 मङ्गेनैवमनुत्पद्यन्ते, तदा सुतरां यतीनां सर्वसाधयोगविरतानां विदितागमसाराणां
 क्वचित् विरतिमङ्गे पश्चात्तपः प्रापञ्चिकग्रहणं युक्तं, ये तु निवृत्ततया तां मञ्जन्ती
 मनाग्लजामपि नादपति तेषां नास्त्येव तपःप्रमृतीति वृत्तार्थः ॥ २३ ॥

इदानीं तेषां लोकोपहासपुरस्सरं त्रिनपथपरिपन्थिस्व वृत्तद्वयेन प्रकटयन्नाह—

देवार्थैर्म्यपतो यथाकञ्चित्ते सर्वैर्तुरम्ये मठे ॥ २४ ॥

इयाद्युद्धतसोपहासवचसः स्युः प्रेक्ष्य लोकाः स्थितिम् ॥ २५ ॥

व्याख्या—तेषां स्थितिं प्रेक्ष्य लोकाः सोपहामवचसः स्युरिति सम्बन्धः ।
 कथमित्याह—अहो इति विस्मय, सितपटाः—श्वेताम्बराः 'कटं' दुष्करं 'परन्ति' मनुतिष्ठन्ति
 'वर्तं' प्रव्रज्यां, महद्दार्ढ्यमेतत्—यत्—सितपटाः कलावप्येवविषं अतकष्टमनुभवन्ति, नहि
 सम्प्रतिष्ठनैर्मानवैरल्पसम्पत्तैरेवैषि कटं कष्टं क्षम्यते, अथ च सर्वैरप्येवकुर्यं वर्तं कर्तुं
 पापत एव, सुखहेतुत्वादित्युपहासः । अथ कथमेवमुपहासः तेषां वैः क्रियत ? इत्यत आह—
 'साधुभ्याजेन' पतिष्ठघना विटाः, नामी माचवः सङ्घषणायोगात्, किन्तु तदुभ्याजेन
 विटाः, सकलतल्लघुणोपपत्तेः । उदेवाह—'देवार्थैर्म्यपतो' दृग्गृहाधिपत्ये न तद्वृत्तिणस्य
 तदधीनत्वात् त्रिनपथविनियोगेन 'यथाकञ्चित्' स्वमनोऽप्रमिलापानुरूपमित्यर्थः । 'कृते'
 निष्पादिते 'सर्वैर्तुरम्ये' सकलवसन्तादिरूपता विमलकालनिशेपमनोहरे मष्टे प्रतीते, तत्र
 'नित्यस्याः' सततवासिनः, सुविदिता हि देवद्रव्योपमोगमपात् पतिनिमित्तनिर्मितत्वेन
 महासाधपत्राच मष्टं न वसन्ति, किन्तु याचिते याच्छि—ताच्छि परगृहादावेव, तत्रापि
 ना[न]वरत वसन्ति, नित्यवामस्य च यतीनां धादादिप्रतिबन्धलाभवादिदृष्टत्वेन प्रति-
 पेक्षात्, तद्यतविहारस्यैव ममकारापुच्छेदनिमित्तत्वेनाभिधानात् । एते तु सातलम्पटतया
 मठे नित्यकृतस्थितयो विलसन्तीति कथं न भवन्ति विटाः ? । तथा 'शुचयो'
 निर्मला 'पशूत्स्यः' पशून्शुक्लसंकीर्ता इंसूतादि मयाः श्रय्याविशेषा, यद्वा 'पशूः'
 धीपर्णादि वारुनिर्मिता ताः 'अपनं' अपनीय तेषां च तथा, साधवो हि कम्बलादि
 संस्वारक एव शरत, न पशूत्स्यदिषु, तासां प्रमार्जनाद्यद्यदे विभूषासातलीलत्वस्यैव
 कथालोकोपहामहत्तराच, एते तु तत्र क्षयाना विदरव प्रकटयन्ति । तथा 'सद्गन्धिका
 पासता' श्रोमनगण्डिकापासनाः—श्रोमनगण्डिकासखरकादि विदरमात्रा, गण्डिकायुप

वेद्यने च दोषा मुनीनां प्रागेवोक्ताः । 'सारम्भाः' मठ-वाटिका-कृष्पादि-महासाधना-
 व्यापारकरण-कारण-प्रयणाः 'सुपरिग्रहाः' गृहिवत् भाणिन्यादिप्रबोधनेन वनवान्
 स्नेहादिमाण्डसङ्ग्रहपरायणाः 'सविषयाः' बसुरारीन्द्रियानुकूल-नर्षकीदर्शन-साम्बुक्त
 स्वादन-चन्दनाद्यहराग-ग-धर्षगीत-भवभादिविषय-सततानुपकषेवसुः 'सेर्षा'
 विषयासक्तत्वात् कामुकत्स्थामिमतां योषितमन्येन सार्द्धमालापादिविद्विधानाप्रवेशे च तं
 प्रत्यक्षमामात्रः 'सर्काक्षाः' सम्मोगनिलासाम्पासाप्रतिक्षण नवनवोपजापमानरिरंसी
 त्कलिकाः । आरम्भाद्यथ यतीनां बहुदोस्वादनैरुषा निषिद्धा एव । 'सदा' सर्वदा,
 विषयाजामनादिमवाम्पासत्, कदाचित् स-मुनेरपि कस्यापि चेतोविकारमार्त्रं प्रादुःभ्यात्,
 न तु सर्वदा, तदैव तेषां ज्ञानाङ्गणेन स्वचित्तमाकृष्य मिथ्यादुष्कृतादि प्रायश्चित्तप्रति
 पत्तेः, इति साचूक्त- 'साधुभ्यामविटा' इति ॥ २४ ॥

'इति' उक्तप्रकाराणि, भादिसङ्घात् अन्यान्यत्पेदे प्रायश्चित्त विद्वन्वना व्यञ्जकानि
 बचांसि गृह्यन्ते । ततश्च इत्यादीनि-उद्धतानि-बहुजनपदनस्य सुत्रयितुमशक्यत्वात्तनि
 इत्युद्धतयोद्धतानि, सर्वत्रास्त्रलितानीति यावत् । 'सोपहासानि' उत्प्रासमाञ्जि 'बचांसि'
 वचनानि येषां ते तथा स्यु-मैषेयुल्लोकाः-प्राकृतत्रनाः कुनीर्षिकमाविताश्च जैनपञ्चमत्सरिणः
 'प्रेक्ष्य' साध्यास्तुल्य, येषामिति पदं तुर्यपादस्थित सकल वाक्य दीपयति, तेन येषां
 स्थितिमित्यादि सम्बध्यते । 'स्थिति' यति अनुचितासमञ्जससामाचारि, स्वरूपेणैव तावत्
 मत्सरिणः सर्वस्याप्युपहासं कुर्वन्ति, किम्पुनः सम्प्रति निरतिशयस्य त्रिनद्यामनस्य ।
 तत्रापि लिङ्गिनां तद्यारूपं वैशसं व्यचहारं षीक्ष्य कथञ्च न कुर्वुरित्यर्थः । तथा
 'भ्रुत्वा' आकर्ष्य येषां स्थिति 'अन्ये' अपर 'अमिष्टुलाः' श्लेषदर्शनेभ्यः सकलो
 पपत्तिकलितमिदं जैनदर्शनं, यतपोऽप्यत्र दर्शने छान्तात्मानः क्रियानिष्ठाभोपलभ्यन्ते,
 ततोऽस्माकमपीदमङ्गीकर्तुमुचितमिति चेतसोऽम्बुपगमविषयीकृतमिनशासनास्तेऽपि,
 आसतां तदपर इत्यपेरर्थः । 'भ्रुतपवात' जैनसिद्धान्तमार्गात् वैभुस्य, एतावन्तमनेहसं
 बयमेवम् अज्ञास्याम-यदेतदेव तात्त्विकं धर्मदर्शनं निरपवादं, परं पदत्राप्येवं विधा असदा
 चारकारिणो विलोक्यन्ते तदाऽऽत्मनन ताम्र-दिरण्यमा-सङ्कारदेऽशीपेनान्तो निस्सारेण
 बहिर्मात्रमनोहरणं सर्वथा, प्राक्स्वीकृतमेवास्माकं दर्शनं भेषा, अहो जैना अन्यथा
 पादिनोऽन्यथाकारिण इत्यादि वचनसन्दर्भेण 'वैभुस्य' पराङ्मुखत्वं सर्वथा बहि
 र्भावमिति यावत् 'आत-वते' दर्शयन्ति । तथा येषां 'मिथ्योसया' मृषावचनेन,
 ते हि स्वस्वलिताचारत्वेन सर्वशङ्कितत्वात् भ्रममञ्जुचेष्टितं प्रति कनचित्तप्रष्टासन्तो मति
 म्नुच्यन्तीकं भाषन्त, यथा-क एवमाह !-न नयमेवंविधमेव कारिण इति । ततश्च

'दुष्टोऽपि' सम्पग्रहणयो जिनमत्तान्तःस्था अपि प्रायशः, किम्पुनरन्वे ! इत्य
 पेरर्थः । 'विप्रति' धारयन्ति-कूर्धन्तीति पाषट्, मनः-चेत 'सन्देह' इद किमथमन्यया
 वेत्सुमयश्चेटी तल्लेख्यनवधारणानं संश्रयः, स एष एकप्रानवस्थितरूपत्वसाधर्म्यारोला,
 तथा चर्तं, यथा दोषारूढ वस्तु तस्याचलत्वाच्चल, एव सुदृशामपि मनः । अथवा
 'सन्देहेन करणभूतेन दोषावचल येषां नाम जैनानां त अमी सर्वत्र सम्प्रति प्रसुतत्वात्
 पुरोवर्तिनः । नन्विस्पष्टमार्या । 'सर्वथा' सर्वैः प्रकारैः जिनपथप्रत्यर्षिनी' भगवन्मत्त-
 प्रत्यनीकाः, न तु केनापि प्रकारेण सबलुकला अपि जैनदर्शनोद्धारस-सदमिष्टस्वधैरुकाया
 पादनादिना जिनध्यासनरूपचयहेतुत्वेन भन्सुतरतेषां तदुच्छेदकत्वात् । यथा चापराधेन
 श्लक्ष्णरक्षणविशदे भगवच्छासन लोकोपहासविपर्यासादयो दोषाः प्रादुःभ्यन्ति तेऽनन्त
 संसारिणः सिद्धान्ते प्रविपादिताः, महापापीयस्त्वात् । 'तत' इत्येतत्पदमग्रिमहत्तौ
 सम्मस्यत इति वृत्तद्वयार्थः ॥ २५ ॥

साम्प्रत कृपणवर्षिणां विविधपथ प्रत्येकान्तिकीमात्यन्तिकी च निरुपमा च मनसो
 दुष्टतामुपसम्प तदुत्पाद् च इतरजनमनःकारणसामग्र्या असम्भाष्यैः तद्विलक्षणं तदुत्पाद्
 सामग्री सम्भाषनाद्वारेणाह—

सर्वैरुत्कटकाळकूटपटलैः सर्वैरुत्पुण्योच्यैः ॥ २६ ॥

व्याख्या—'ततः' शब्दस्य प्राक्तनवृत्तश्चस्वह सम्भवात्तेन, यतोऽमी सर्वथा
 सत्यव दुष्टचेतसः ततः तस्मादेतौः, किमित्याह—नूनमिति सम्भाषनायां, महमेवं सम्भा
 षयामि-यावन्त्यतिदुष्टवस्तुति अगति सन्ति तावन्निर्दुर्मागमासेदुषां छूर् मानसमकारीति
 सम्भवाः, कथमन्यया समनसोऽतीव छूर्ता ? इतरजनमनःसाधारणकारणसामग्रीतः
 तदनुपपत्तेः, कारणानुरूपस्वार्त्कार्यस्य, न च हि न्यग्रोचधीप्रात्पिचुमन्दप्ररोहः ।
 कैस्तेरित्याह—'सर्वैः' सकलैरुत्कटकाळकूटपटलै-नूतनत्वात्प्रसृष्टयोपातिविषमेदसमूहेः,
 एकदिग्भादिमिरनुत्कृष्टैश्च कालकूटशकलेस्तत्पटलैर्वा तादृक् क्रूरमनसो जनयितुमशक्य
 त्वाद्बहुक्त । एवमुत्तरपदेष्वपि योजय । सकलकाळकूटपटलैश्च कबले प्रकृतमनसः
 कर्तुमशक्यत्वात्-अपुण्योच्यैरित्यादि वाक्यावतारः, ततश्च सर्वैः-अस्त्रिडैरुत्पुण्योच्यैः पाप
 राक्षिभिः, सर्वेभ्यालकुसेः-अशेषाशीविपसन्दाहे 'समस्तविधुराधिभ्याचिदुष्टप्रदे' कृत्स्नस्य
 सनचेतः पीडा-गद-महलादि पापप्रदेरेभिरस्त्रिडैर्दुष्टैरेकसामग्रीभावेन सम्भूय 'छूर्'
 सम्मर्त्सिपातुकं 'मानसं' चेतः 'अकारि निर्मम । छूर्रूपस्य मनसो निर्माणं विषेयमत्र,
 एतेनास्य ममस इतरमनोमिः साक्षात्तमपि निरस्तमित्येतदपि सम्भाषयामि इतरमनो

विलक्षणसामग्रीजन्यत्वेन वैद्यास्योपपत्तेः, न हि सृष्टिपञ्चदण्डादि-तन्तुवेमादिविसदृश
 सामग्रीजन्ययोर्षट्पटयोः साम्रास्य नाम, तथा च तन्मनसः कदाचिदपि न शुभमावता-
 पत्तिः, न हि भूनिम्बस्य-शर्करामात्रः श्रित्तिपञ्चतेनाप्यापादयितुं शक्यते, तत्कस्य हेतोः ?
 स्वस्वसामग्र्या भिन्नातीततयैव तयोक्तरूपेणिति । अथवा मनः सिद्धमेव तस्य तु क्रूरत्व
 विधेय, तस्य कालकूटादिभिः साध्यम् । अथास्मिन्पक्षे क्रूरत्वस्यौपाधिकत्वात् अपगमप्रसङ्गे,
 बन्नादिषु महारञ्जनरागस्य तथा दर्शनादिति चेन्न, औपाधिकस्यापि धर्मस्य कृपाधि-
 सामग्र्या जन्यमानस्यानगमदर्शनात्, यथा पद्मांशुकादिषु नीलीरागस्यौपाधिकत्वादि
 न कदाचिदपगम इति । तदुपपन्नमेतन्नूनं क्रूरमकारि मानसमिति । 'अणु' प्रत्यय
 'दुर्मागं' कृपय 'आसेदुर्मा' अम्बुपेयुषां लिङ्गिनां तद्भक्तानां चेति श्लेषः । ननु मयत्
 तेषां क्रूरं मनस्तथापि किं न परिच्छिन्नमित्यत आह-'दौरास्त्वेन' दुष्टाश्रयत्वेन 'निब-
 द्भुषां' उच्छिन्नदुर्मां 'जिनपर्यं' मयवत्प्रणीत सत्यर्थं सन्मार्गवर्तिनामुपसर्गकरत्वेन
 वस्तुतो जिनमार्गं भ्रष्टयद्भिर्बहुस्माकं छिन्नमित्यर्थः । अथ जिनपर्यं नि [अ] प्रतां
 तेषां द्विजादीनामिह किं दक्षनान्तरपरिब्रह्मेय मतान्तर प्रकृपया नेत्याह-'वाचा'
 वचनेन स्वमति करिषतमप्यौदक्षिण मोक्षनादिमार्गं 'एवमः' अयमेव स जिनप्रणीतः
 पन्था नान्य 'इति' एवं प्रकारेण 'उच्युषां' अभिबुधुषां, न ते दर्शनान्तरस्थाः
 स्वमतं परुपपन्ति, तत्त्वैर्विनियमवर्तिनो जनस्य प्रठारयितुमशक्यत्वात्, किन्तु अस्मि
 श्लेष दर्शने वेपमात्रेण स्थिताः स्वप्ररूपित कुमार्गं जिनमार्गं तथा पदन्तो ह्युपगतोर्कं व्याप्तौ
 ह्यपन्तीत्यर्थः, एतावता संरम्भेण सत्यर्थं प्रत्यतीव प्ररपनीकत्व तेषां प्रकटित । इह च
 सेत्यत्र 'स' शब्दाद्विर्बनीयलोपे सन्धिप्रतिषेधेऽपि "ते तदा पादपूरतो सन्धि" इति
 विशेषलक्षणेन सन्धिविधानमिति वृत्तार्थः ॥ २९ ॥

'अत इत्य' न्तरा पदद्वयोरप्यनयोर्षट्पटयोः सम्बन्धयोजनार्थं, तथाप्रिमदृश
 स्यादौ योक्तव्ये, इदानीं तेषां वचनमात्रमपि विवेकिनः श्रोतुं न युज्यत इत्याह-अत -

दुर्मेवस्त्रुप्रकृमवतमः स्तोमास्तथी चण्डुषाः ॥ २७ ॥

व्याख्या-यद्य एक नामैते जिनपर्यं प्रति दुष्टा, अतो-ऽस्माद्वेतोः, किञ्चित्पाह
 तेषां 'वचांसि' कृपयप्रतिपादकानि कनानि 'कुरुते' विवचते कर्मो स्वभ्रमये 'सकर्मा'
 सभोत्रः । अथ च सहृदयः 'कय' कन प्रकारेण ? न कथञ्चिदित्यथा । नहि सकर्मस्य
 कर्मकृतानि स्पृष्टपरमर्माणि वचनानि स्वत्तानां भोक्तुं युक्तानि, किन्तु कर्मयोरेतदेव फलं
 पत्नीपूषणार्थंका अवहसितवृत्ताः सर्वां प्रकृतयः भूयन्ते । अथ च सकर्मस्य प्रेषावतः

कृपयवर्षिणां भाषितानि कर्म कर्तुं न पुन्यन्ते, तच्छ्रवणस्य साधूनामपि मिथ्यात्वनि-
 बन्धत्वेनाभिधानात् । कीदृशामित्याह—‘दुर्मेदी’ निषिद्धत्वात्—दुरुच्छेदः’ स्फुरत् मनसि
 सततावस्थिततया आगरूक ‘उग्रो’ इवः ‘कुप्रहः’ चैत्यवासादि प्रतिष्ठापनविषयो मिथ्या
 अभिनिवेशः स एव ‘तमः स्तोमः’ सत्ययदर्शनान्तर्घायकत्वादन्यतमसः पटल, तेन
 ‘अस्त’ उक्त ‘धीः’ प्रेक्षा, सैव सत्ययप्रकाशकत्वात् अमुल्लोचन वेपां ते तथा, वेपां, यथा
 तम स्तोमेन तिरोहितचक्षु पचान न पश्यति तथा वेपामपि धीः कुप्रहेण तिरस्कृत
 स्वात् न सन्मार्गं मृगयते । तथा ‘सिद्धान्तद्विपता’ तद्विपर्यस्ता—र्यप्ररूपजया तदुच्छेद प्र
 हृपत्वादागमवैरिणां, निरन्तरमहामोहाद्—भ्यसनातिरेकाविशेकात् । महमिति निपातोऽस्म
 र्भ्यः सतय वपमेव श्रेष्ठाः, नास्मत्समः कश्चिदित्यास्मानं मन्यन्ते य ते अहम्मानिनस्तेषां,
 विवेकिनां हि गम्भीरत्वेन महति गुणगणे सत्यप्यनुत्तरेकात्, मूढानां तु तुच्छतया
 स्तोकेऽपि तस्मिन्—अगतोऽपि सृजतया मननात्, तथा ‘स्वयं’ आत्मना ‘नशाः’ सुखलो
 सतयाऽनवरतम्—अन्याप्ये पयि प्रवर्षमाना अनपुरतः सस्थापयितुमशक्नुवन्तः ‘क
 पर्मः ? क सम्प्रति अतिन ‘इत्यादि नास्तिर्क्य प्रतिपन्नाः तेषां, ‘अन्येषां’ आत्मभ्यति
 रिकानां ‘नाशनकृत’ नास्तितावादापादननिमित्त ‘बद्धोद्यमानां’ यदि हि एतानप्यात्मना
 कयचित्समी कर्मस्तदा सुन्दरं महत्स्यन्ययैतं धार्मिकमन्याः परुषभाग्निः अस्मान् सन्त
 क्षिप्यन्तीत्याशयेन उभाघनाय विहितप्रयत्नानां ‘सदा’ सर्वदा ‘मिथ्याचारा’ मुक्ति
 पयविपरीताः समाचारा मिथ्यात्वा—विरति—प्रमाद—कपाय—दुष्टयोगलक्षणाः, अथवा
 लोकरप्रवृत्तमनहेतु—कपायेन्द्रियसयमपुरस्सरं विषयप्रणिहितमनस्कत्वं, यदाह “ पापान्द्रि
 याणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरम् । इन्द्रियार्थांश्च विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते
 ॥ १ ॥” ततश्च ‘उद्घटा’ तद्युक्तानां, अतः उद्घापितानि सुविहितैः सुभाषकैश्च न
 भोतव्यानीति तात्पर्यमिति वृत्तार्थः ॥ २७ ॥

अधुना वितथादिरूप धर्मवेधिनामपि तेषां कृपयस्य तथाविध—सुप्रमनोपादेयतां
 सविवाह प्रतिपादयन्नाह—

यत् किञ्चित् वितथ यदप्यनुचित यतो—क लोकाचरो ॥ २८ ॥

व्याख्या—तत्तदिति शीघ्रतया सर्वसत्त्वहमाह—धर्मसाधनममुष्टानमिह धर्मः ततश्च
 ‘धर्म इति’ सुकृतमिदमित्येवरूपतया ‘सुवन्ति’ वदन्ति ‘कृपयो’ दुर्मेवतो नाम
 चैनाः । परिक्रमित्याह—परिक्रमिदिति, सामान्यतो निर्दिष्ट विप्रतोऽनिर्दिष्टनामक

‘वितर्क’ मलीकं भेषिकराजराजोहरणवन्दनादि, न होतदागमे कश्चिच्छिखितमस्ति, येन सत्यं स्यात्, परं लिङ्गिनः स्वव्यथापादानायै तदपि धर्म इति मापन्ते, यदाह—“ श्री भेषिकः क्षितिपतिः किल सारमेय—छात्रगूलमूलनिहित पतिवद्वन्द्वे । मध्या रजोहरण मित्यनृतं वदन्ति, ही !!! लिङ्गिनो वृषतया कृषियः प्रलब्धुम् ॥ १ ॥ ” तथा वदपि, अपिः समुच्चये । पञ्चानुषित—मयोम्यं पित्रासुरेशेन यात्राकरणादि निमित्त हि धर्मनिमित्तं हि कृत्स्नमात जिनमन्दिरे कर्तुंशुषित, नान्यत् । पित्रासुरेशेन तु यात्रादि तत्र विधीय मान गुणवद्गुणानविकलकेवलस्नेहनिष—वनस्वात्म धर्मः, परं तदपि लिङ्गिनो धर्मोऽप मित्यभिधाय स्वोपयोगाय पिधापयन्ति । तथा यल्लोको—त्रैनमार्गवहिभूतः शिखरनः ‘लोकेशरो’ जिनप्रवचनं, साम्यासुचीर्ण—पाशं धृतकमिध्राग्रहणादि, एतत् हि लोकोको चरयोर्विकृतत्वात् न धर्मस्ते तु गान्ध्यादिहेतुनैतदपि धर्म इत्यमिदवति, यदाह—“मिथा धृतकमन्दिरे मगवता पूजा मलिपा क्षिपा, हीनानां परमेष्ठि संस्तवविधिर्पञ्चिच्छं हीक्षणम् । त्रैनेन्द्रप्रतिमाविधापनमहो सल्लोकलोकेशर—व्यापृचैरथ—हेतुमप्यधिपताः भेयस्तथा वक्षते ॥ १ ॥ ” तथा यल्लोकेशर—संसारकारणमेव ‘महिनां’ देहिनां जिन मन्दिरे जलक्रीडादि । एतद्धि मदनोहीपनत्वात् क्रीडायात्रत्वेनासापिदकत्वात् संसारदर्शन मेव, परमेतदपि लिङ्गिनो धर्मच्छयना स्वावलोकनकृतहतेन कारयन्ति । तथा पत् ‘श्याञ्चपाकारं’ सिद्धान्तविरोधापायकम् औद्देशिकमोक्षनादि, यथा चौदिक्षिकादीनां श्याञ्च वाचितम् तथा प्राग्नेयोऽपादित, अथवा आपादचतुर्मासकात् पञ्चाशचमदिनप्रतिपादितम् पर्युपणापर्वणः भावणाद्याधिप्यवति वर्षेऽप्यीषितमेऽह्नि विधान । ननु हवन्तु ते स्वमति कल्पित मार्गं, तथा वितथादिस्वमावस्था न कोऽपि ग्रहीष्यति, तथा चोक्तोऽप्यनुक्त कृत्यो लोकोपादानामावेन प्रसराभावादित्यत आह—‘ मूढा ’ अज्ञानिनः तद्दर्शम्यात्रेन लिङ्गिप्ररूपित मतं अर्हन्मतज्ञान्तया जिनमार्गोऽपमिति मिथ्याज्ञाने ‘ लान्ति ’ उपपादते । अपमर्थः यथोपगतथाकधिक्यादि सद्बुद्धधर्मोपलम्भात् परस्परभ्यावर्तकदेश्चान्तास्यादि मेह धर्मानुपलम्भात् अरहनेऽपि शुक्तिकार्या रभ्रमेतदिति धिया भ्रान्ताः प्रवर्तन्ते, अर्थापि सन्मार्गसन्मार्गगतजिनदेवताऽन्त्युपगमवाक्येयादि समानधर्मावगमादन्योन्यव्यवच्छेद कविष्यविधिप्रवृत्त्यादि विशेषधर्मानवगमात् वितथत्वादिना वस्तुतोऽनर्हमेतदपि प्रकृत मार्गोऽर्हमेतदिति बुद्ध्या मूढाः प्रवर्तन्ते इति, न कवलमते कृमार्गं वदन्ति मूढास्तु त गृहन्त्यपीति च दृष्टार्थः । हा इति खेद ‘दुरन्तदृष्टमाधर्मस्य’ दुःआवसानान्त्यधर्मस्य ‘विस्फुञ्चित’ विमृम्भितमतदिति, कथमन्यथा कृपयस्याप्यस्य बहुसुगमजनोपादयता स्या दतः कष्टमतत् यद् अयापि त्रय कुमार्गोऽस्त्यलितप्रसरोऽनुवर्षत इति वृत्तार्थः ॥ २८ ॥

साम्प्रतं सुगन्धनाम् प्रति स्वमत मोक्षपथतया द्विशतः सत्ययगामिनश्च धार्मिकान्
स्वगन्धनाभ्यनुरोधित्वेनाद्यतया भवज्ञानानस्य कल्पविषया छन्दाचार्यग्रामण्योऽप्रस्तुत
प्रथमया स्वरूपमाह—

कष्ट नष्टविना नृणां यदृष्टां चात्यम्बुदेक्षिकः ॥ २९ ॥

व्याख्या—‘कष्ट’ तु स्वमेतत् नः चेतसि वर्धते, यत् किमित्याह, पदिति भाक्योप
क्षेपे, यद्युगामदृष्टां जात्यम्बुदेक्षिकः कान्तारेऽमीप्सितपुराभ्यां प्रदिशतीति सम्बन्धः ।
तत्र ‘नृणां’ पुंसां ‘नष्टदृष्टां’ अलोचनत्वात्कान्तारपातेन द्विभ्रमूढत्वाच्च प्रप्रष्टमाधी
प्रतीच्यादिकल्पविभागपरिच्छिदानां ‘अदृष्टां’ काश्चकामलादिना दृग्विकलानां, न तु
अन्मान्धानां, अन्मान्धो-अन्ममिष्यात्पा लोचनरहितः । न तु सोऽपि तदेवञ्चात् इतरम्यः
भवत्पादिना विज्ञाय कल्पविदितपुरपथ देहपतीति तत्रोक्त ‘वैदेशिक’ इति । विदेशे-
योअनम्यवहिते दद्यान्तरे ज्ञातो गर्हितमेति वैदेशिकः । अहि तदेवस्वरूपमात्रस्याप्य
नमिष्यत्वात्कथं प्रकृतमार्गं जानीयादपि, ततः कर्मधारयः । ‘कान्तारे’ अनसञ्चार
शून्ये दुर्गवर्त्मनि ‘प्रदिशति’ प्रतिपादयति । ‘अमीप्सितपुराभ्यां’ अगमिपितः
नगरमार्गं, किलेति चार्थायां । ‘उत्कन्धरो’ उत्क्रीवः कंचरासुभ्रमस्य सुभ्रदण्डसुरिष्यप्य
कथयतीति कष्टमेतत् । तुः पुनरर्थे । ‘इदं’ कल्पमाण पुनः ‘कष्टतरं’ पूर्वस्मादपि
कष्टमहत्कष्ट । यत् किमित्याह—‘सोऽपि’ प्रागुक्तो मार्गदेष्टा ‘सुदृशो’ निर्मलनयना
नत एव ‘सन्मार्गान्’ इत्यनगरसुगमपथप्रस्थितान् ‘तद्विदः’ सुग्यक् सन्मार्गज्ञान्
यत् इति, सावज्ञमिति क्रियाविशेषण-सावदेवं ‘अज्ञानिव’ मार्गानमिज्ञानिव । यथा
मार्गानमिज्ञा मार्गसुपदिशन्त उपहस्यन्ते लोकेन, तथैतेऽपि तन । एव प्रस्तुतमुपमान
योऽपित्वा प्रस्तुतमुपमेयमिदानीं योऽन्यते-कष्टमेतत् यद्युगां-सत्ययेच्छुपुरुषाणां ‘नष्ट
दृष्टां’ अतिगुणतया सत्ययकल्पविभागानमिज्ञानात् अदृष्टां-सम्पगज्ञानदर्शनविकलानां
‘जात्यम्बुः’ सिद्धान्तरहस्यलेशानमिष्यः सर्वथा अगोतार्यः । सोऽपि गीतार्थसंवासादेः
कल्पित् मोक्षपथकथनप्रवीणः स्यात्-तत्राह-‘वैदेशिको’ गर्हिताधारत्वाद् गीतार्थसुनि
पुद्गलसद्ममाश्रयितः । एष चापुनिकदुससुप्रचरो निःशुद्ध निःभयसत्यप्रत्ययिंमार्ग
कथनदीधितो यथाछन्दश्चिरोमणिः कथिदाचार्यो मन्तम्यः । ‘कान्तारे’ मवमहा
टम्पां ‘प्रदिशति’ अमीप्सितपुराभ्यां-सुक्तिमार्गं ‘उत्कन्धरो’ दक्षिणादृष्टार
विकारः । तथा य सोऽगीतार्थ उत्कन्धराक्यो मिष्यादिति कल्पविदपि ‘मत्पथ’
मोक्षमार्गं न वेत्ति, नाप्यन्येन गीतार्थेन प्रतिपादितोऽपि प्रयेति, इति कष्ट,

एतस्कादृशं 'तु' इति पूर्ववत् । सोऽपि प्राग्विहितो यथाछन्दाचार्यः 'सुदृका' सम्ब-
 ग्धानदर्शनमुच्यते : 'सन्मार्गमान्' ज्ञानदर्शनचारित्र्यलक्षणमुक्तिपत्रप्रवृत्तान् 'तद्विशो'
 मुक्तिमार्गाभिज्ञान धार्मिकान् सुविहितसाधून् यद्वसति सावज्ञमज्ञानिष, यथा-किमयी
 अमीतार्था मूर्खशिरोमणयः सिद्धान्तरहस्यं जानन्ति ? अहमेव सकलभुतपारावारपार-
 ष्या, ततो यमहं प्रवीमि स मुक्तिमार्ग इति । किमित्येवमुपहसतीत्यत आह-तमहा
 कष्टमित्युपमानोपमेययोस्तुत्यसया योमना । अत्र च सुम्भजनपुरतो निरुद्धं स्वकल्पितं
 चैत्यवासादिकमुत्सृज्य प्रयचन् विविधविषयपारतन्त्र्यप्ररूपननिपुणान् सुगुरुसम्प्रदाय-
 पत्तिनः सुविहितानऽद्वयपोपहसन् सम्प्रति पचैमानः कुसङ्गाचार्यवर्गोऽनया मङ्गला
 कविना प्रतिपादित इति वृत्तार्थः ॥ २९ ॥

साम्प्रत भुत-पचा-बङ्गा-द्वारमुपसञ्जिहीर्षुः सुदभिनमार्मस्य दुष्टोपचितसमुदित
 कारणकलापेन सम्प्रति दुर्लभत्व प्रतिपादयन्नाह—

सैषा हुण्डावसर्पिण्यनुसमवद्भ्रसद्भ्रमभाषामुभाषा, ॥ ३० ॥

व्याख्या—या आगम-प्र-वेष्वागामितया लिखिताऽऽकर्ष्यते, सा एषा सम्प्रति
 प्रत्यक्षा, कालस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि तदुद्भवकार्याणां प्रत्यक्षेणोपलम्बेनोपचारादेपेस्तुक्तं ।
 'अवसर्पन्ति' प्रतिक्षणमायुः शरीरप्रमाणादयो भाषा हानि गच्छन्ति प्राणिनामस्वा-
 मित्यवसर्पिणी सिद्धान्तप्रसिद्धः कालक्षेपा, हुण्डं-सकलाज्ञोपाज्ञानां यथोक्तमान-
 वैकल्प्यहेतुः पृष्ठं संस्वानं, तेनोपलक्षिताऽऽवसर्पिणी हुण्डावसर्पिणी, व्युत्पत्तिमात्रं चेदं,
 तन्मत्स्वनन्ततम-कालमाव्यसंयतपूर्वानिबन्धनं चैत्यवास्तुत्यादहेतुः शुभमावहानिकारणं
 कालभेदो हुण्डावसर्पिणी, सा च मगवति मोक्ष-गते जातेति । 'समयाः-परमसङ्गमः
 कालः, ततश्चानुसमय-प्रतिक्षणं 'मभ्यानां' मुक्तिगामिनां, अथवा 'मभ्याः' शुभा
 'भाषाः' परिणामा 'अनुभाषाम्' प्रमाणा मति-निष्पत्त्या वा, ततश्च 'भ्रसन्तो' हीय-
 माना मभ्यभाषामुभाषा पस्यां सा तथा । हुण्डावसर्पिण्यां हि कालस्वभावात् चर्माभि-
 नामपि प्रायेण भाषा यादृशा वर्धमान क्षये न तादृशाः क्षयान्तरे इत्यादि क्रमेण प्रति-
 क्षणं सङ्क्षेपतारतम्याप्रातस्तयोपचायमाना उपलभ्यन्ते, तथा च प्रकरणकारणैश्च प्रक-
 णान्तरे प्रदृशितं—“कालस्तु अहिकलिकृतयेण अहसेसिपुरिस-विरहेण । पापमङ्गमत्सेन
 य, गुठकम्मत्सेन य मियाण ॥ १ ॥ किर सुणिपत्रिणमयावि ह, अमीकपत्तिसवम्म-
 मग्गाधि । पायमइसंकिडिड्ढा, चमयी किरय दीसति ॥२॥” अत्र च इतिदित्यनन संयोग
 परत्वेऽपि पूर्ववर्णस्य न गुरुत्व, छन्दः शाल्लैर्ष्यवसिधत[व्या]नुश्रवणा कथितवचनित्वात् ।

तथा 'विद्यः' वैतसिदान्तोक्ताश्लीतिग्रह-मभ्याभिद्यतः पूरया, चः समुच्चये, उग्रग्रहो-
 विनप्रबचनस्योद्गोपसर्गकारित्वात्-दारुणो ग्रहः, अय-मेष प्रत्यङ्घोपलभ्यमानकार्यो
 मस्मरादिनामा, खै-अक्रान्त, तस्य च शून्यत्वात्स्वमिति शक्तिरभ्यवहारे शून्यस्य-
 विन्दोः संज्ञा, नस्वा इति च विद्यते संज्ञा, नस्वानां विद्यतिसङ्कल्पत्वात्, तत्र च ख च
 खं च नस्वाभेति शब्दः, तैः पमानुपूर्णा अङ्कुरचया स्यापितैः मितानि-परिसङ्कलपातानि
 'वर्षाणि' संवत्सराः 'स्मिति' रकस्मिन् राश्राभ[व]स्थान यस्य स तथा, एकराशौ वर्ष-
 सहस्रद्वयदिपतिक इत्यर्थः (१०००) सहि ग्रहो मगधभिर्वागकालानन्तरं वर्षसहस्रद्वय यावत्
 शूरत्वात्-मगधजन्यमराशौ सङ्क्रान्तत्वात्-मगधन्त य मुक्तत्वेन दुःखीकर्तुमशक्तत्वात्-
 तस्यद्यतयैव प्रबचनस्य धारा करिष्यति । तथा 'अन्त्यं' दक्षमं, चः समुच्चये । 'आधये'
 अनन्ततम-काष्ठमाभिस्थादुत्तम-संयतपूजास्य 'एतत्' इदानीं प्रत्यक्षं 'विनमतहतये'
 माहवप्रबचनापमाननापादनाय 'तत्समाः' तैः प्रागुक्तैस्त्रिमिः 'समा' तुल्यबला
 'दुष्पमा' दुष्ट-लोकदुःखकारिण्य 'समा' वर्षाणि यस्यां सा तथा, कालचक्रस्य
 पठरकस्य पञ्चमोऽरकः, यथा प्राक्तनास्त्रयः समुदिता विनमतं भवन्ति तथा चतुर्था
 दुष्पमाऽपि । चः पूर्ववत् । इति प्रकरणे । 'एषु' प्रकृतेषु हुण्डावसर्पिण्यादिषु 'एव'
 दर्शितप्रकारेण प्रतिपद सुविहितलाभवासंयतगौरवापादनलक्षणदुष्टकार्यदर्शनादृष्टेष्वेव
 'दुष्टेषु' श्रेषु 'पुष्टेषु' प्रकर्षकोटिं प्राप्तेषु हुण्डावसर्पिण्यादिषु चतुर्थं 'अनुकूल'
 प्रतिपदय 'अधुना' साम्प्रत 'दुष्टमो' दुरापो जैनमार्गः, प्रतिपत्तिविघ्नकारिणां हुण्डा
 वसर्पिण्यादीनां दुष्टत्वाच्च महिम्ना च भूयोऽलोकस्य महाविनन्दित्वात्कृतिपपसात्किञ्च
 अनोपादेय इति यावत् 'जैनमार्गः' प्रतिभोतोरूप-मगधस्य इति वृत्तार्थः ॥ ३० ॥

एवं तावदष्टादशमिर्वृत्तैः प्रब-चेन लिङ्गिनां भूतपथापद्या प्रतिपादिता, मम्प्रति
 तैरेव धर्मतया प्रतिपादितं गुणित्पेपचीरिति द्वारं निराकृत्यस्तेषां गुणित्पेव दर्शयन्माह—

सम्यग् मार्गपुषः प्रसान्तबपुषः प्रीतोऽसचक्षुषः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—स्वलाः सरस्वाप्तु न खाम्य-ठीति सम्प्र-च । तत्र 'स्वलाः' पुष्पिः
 मत्सरियाः प्रकृष्टास्त्रिङ्गिनाः । कृतदुष इति रूपयातुः किञ्चन्तोऽत्र दोषवर्षायाः । तत्र च
 'कृता' विदिता 'दुषो' दोषाः-स्वयमनेकऽनर्था येस्ते तथा, तस्वभावत्वात् तेषां
 अथवा 'कृता' आरोपिता 'दुषो' दोषा येस्त तथा, निमिषेष्वपि मा-मृनिगुणेषु
 लोकाभ्ये सायवापादनाय स्वधिया विहितदोषारोपा इत्यर्थः । गुणवत्सः परोपारो
 पणस्य तेषां दुष्टप्रलम्बाय । 'उपत् दुषः' निमित्तमिच्छं सुविदिनदमनमात्रणैव प्रकृतिव

ललाटतन्त्रप्रकृत्यादि क्लोषनिकाराः ' न धाम्यन्ति ' न सहन्ते, द्विषन्तीत्यर्थः । तत्र
 देशेऽभीषां प्रचारेण षय लोकास्यागौरव्या भविष्याम इत्यादि बुद्ध्या मात्सर्पाचत्रावस्था-
 तुमेव सेवां न ददतीत्यर्थः । सुबिहित यतीन् सत्समाधुत्वमेवानुगुणविशेषैस्तेषां मावचति-
 ' सम्यक्मार्गपुषः ' भगवत्प्रणीतज्ञानादित्रयरूपमोक्षपथस्य मय्यानां श्रुद्धोपदेशप्रति-
 षोषद्वारेण विस्तारकाः । एतेन तपास्तृप्त्रमापन्नप्रतिषेधमाह । ' प्रक्षान्तवपुषः ' बहिर-
 रुक्षितरागादि विकारक्षरीरमाह, एतेनान्तरपि प्रबलरागाद्यमाव प्रकाशयति, अन्तस्त-
 न्नापे बहिः सर्वदा प्रक्षान्तत्वानुपपत्तेः । ' प्रीतोच्छसथमुषः ' द्विष्टानपि प्रतीत्य प्रसन्नो-
 स्फुल्ललोचनाः, एतेन बहिः क्लोषविकारपरिहारमाचिच्छरोति । ' आमव्यर्द्धि ' प्राणाति-
 पातविरमणादिपञ्चमहाव्रतविभूतिमुपेयुषः-आसेदुषः, एतेन शीघ्रामूल सर्वविरतिसम्पदं
 दर्शयति । ' स्मपमुषः ' अहङ्कारविरस्कारिणः, एतेन वाग्मिस्वविद्वेषादावभिमान
 हेतौ मृत्यपि सदाव प्रकटयति । ' कन्दर्पकञ्चुपुषः ' मन्मथशुक्लकृष्णदाहिनः,
 एतेन सर्वव्रतमध्ये निरपवादव्रतव्रतदाहयं द्रष्टयति । ' सिद्धान्ताश्वनि ' श्रुदागममार्गे
 ' तस्युषः ' स्थितव्रतन्तस्परानित्यर्थः, एतेन स्वपशुस्त्रक्रियानियेष प्रतिपादयति ।
 ' जममुषः ' धर्माभावाः, एतेनान्तरपि क्लोषनिरासं ज्ञापयति । ' मस्युज्यता ' विवेकी
 जनसेष्यता ' जग्मुषः ' प्राप्नुषः, एतेन सकलभ्रमणगुणगणसम्पत्तिमाधिमावयति,
 निर्गुणानां विवेकिलोकपूजनामममवात् । ' विदुषः ' विचक्षणान्, एतेन स्वसमयपर-
 ममयमार विदुरतां विस्कारयन्ति । न चैव गुणशालिषु पतिषु द्वेषः कर्तुं युक्तः,
 अनीयमोऽपि तद्वपस्य सकलगुणितगुणद्वेषरूपत्वेनानन्तमवभमनिवचनत्वात्, सिद्धा-
 न्तोऽप्यभिहित " भरद्वाजपविद्वद्, पञ्चम वि कम्मभूमिया साह । एवमि हीलियम्मी,
 सव स हीलिया हुति ॥ १ ॥ संतगुणछायणा भल्ल, परपरिवाओ य होइ भलिय च ।
 चम्म य अवमाणो, साहपभोस य मत्राणे ॥ २ ॥ " ततः प्रेषावता गुणिषु बहुमान
 एव कर्षण्यो, न द्वेष, इति वृत्तार्थः ॥ ३१ ॥

अथ कथमेवं विधानपि मत्साधून् स्वला न धाम्यन्ति ? मिथ्यास्वभावस्या
 दिति म्मा, अत एव तद्वतो मूढजनस्य नामभैनपयवर्धिनः स्वरूप निरूपयन्नाह—

देवीयायुक्तरोचिः अतमहादोषा न वसीयति ॥ ३२ ॥

मिथ्यात्वात्—अहो ! मिथ्यात्वप्रद्विलो जन उरुदोषिणो दवीपतीत्यादि सम्बन्धः ।
 'अहो' इति विस्मय, प्रद येतमोऽपत्निवचनः, सोऽस्यास्तीति, भस्वर्ये इत् प्रत्ययः तद्विदाः
 इद मिथ्यास्व प्रकरणादाभिनिवर्धिकं शृण्वते, प्रायेण जैनमिथ्यादृष्टीनां " गोहृत्मादिस

माहमे" स्यादिनाऽऽमिनिषेष्टिकस्यैव तस्य प्रतिपादनात् । ततश्च तत्र 'ग्रहिसः'
 प्रबलमिष्याऽमिनिषेष्टगृहगृहीत इत्यर्थः । 'जनो' धर्मश्चमि-मक्तथादलोक्तः, तत्रो-
 महान्तो यतिजनस्यास्यर्षमनुचितत्वेन 'क्षोषा' अपराधा रागद्वेषप्राणाविपातापाक्ष्य
 चरुदोषाः तद्वत् आचार्यादीनिधि गम्यं । 'देवीपति' देवानिष-क्षिनानिषाधरति,
 यादृशा द्वा नीरागा अतिशयादि मन्तश्च तादृशा भमी, तस्मादाराप्ता इति द्रवैः तानु
 पमिमीते, न च तादृक्षां तेषां तदुपमान ममीचीन, तेषां महादोषवत्त्वेन देवोपमान
 निषानस्य महापावक इतस्मात् पर मिष्यास्वस्य विपर्यासरूपत्वात् विपरीतपुद्भिः तादृशा
 नपि तयोपमिनोति, एवमुत्तरपदेष्वपि भावनीय । 'स्रतमहाक्षोषान्' प्रणष्टप्रागुक्तपृष्टद
 पराभात् युगप्रधानादीनिधि श्रपः । 'अद्वीपति' भदेवानिषाधरति, नामी द्ब
 स्रदृशाः, सवोपत्वात्-निरतिशयत्वाच्च, तस्मादनाराप्ता इति । अत्र च क्षीणप्रायदोषाणां
 दैवैरुपमान सिद्धान्तेऽप्युद्दिष्ट-" पङ्क्तिरुतो तेषन्मी " इत्यादावाचार्यगुणवक्तव्यतायां
 'प्रतिक्रमः' सिद्धान्त तात्पर्यपरिच्छेददक्षनाऽतिशयवत्त्वाद्भिना तद्विषयपुद्भिर्जनकत्वाचीर्ध
 कप्रतिबिम्बरूप इति व्याख्यानान्, स च विपर्यस्त-मतिव्यापया न करोति । एवमद्वय
 प्राये द्रवपुद्भिर्देवप्राये चाद्वयपुद्भिरिति मिष्यात्वस्वरूप प्रतिपाद्या-गुरो गुरुमुखादिरूप
 तदाह-' सर्वज्ञीपति' सर्वज्ञमिव-सर्वविदमिषाधरति 'मूर्खेष्टस्यनिषह' मष्टमुडामणि
 समूदं स्वाम्युपतगच्छस्वित्त यतिजन, यथा-सर्वज्ञसदृशोऽय मदीयो यतिजनः किं किं
 क्षास्त्रात् न वधीति । 'तश्चम' पददर्शनतर्ककर्कशचिर्ष स्वपरममयनिर्णयभूमि छरि
 विज्ञप 'मज्ञीपति' मज्ञमिव-बालिशमिषाधरति, यथा-न किञ्चिदप्यप जानाति ।
 अपमर्षा-न हि मूर्खेष्टिरोमण्य सर्वज्ञनोपमान युक्त नापि तश्चमस्याजन, अस्यन्तमननु
 रूपत्वात्, परं स मिष्याहानात् एवमपि करोति । अधुना भ्रमार्गे मार्गपुण्यादिरूप
 मिष्यात्व दृश्यति-' उन्मार्गीपति' उन्मार्गमिव-उत्तरपमिषाधरति । 'जैनमार्ग' शूद्र
 भगवत्परं, यथा-नाय मगयस्प्रणीतो मार्गः किन्तु-स्रत्र इति । 'अपय' कुमारां प्राक्प्रति
 नादितमौरुष्टिकभोअनादिक स्वकरित्त 'मम्यक् पविपति' सम्यक् पयमिव-स-मार्गमिव-
 सन्मार्गमिषाधरति । अत्रापि यत्-क्षिनमार्गस्य चन्द्रमत्प्रकाशस्यो-मार्गेण-[तामसन]
 नाम जैनन सादृश्यपापादनसु-मार्गस्य च सरयधतुस्यतापादनं तन्मिष्यास्तोदपादिति ।
 तथा 'स्व' आत्मान 'अगुणाप्रय' निगुणसुग-चरं 'कृत्तार्थीपति' कृत्ताधमिव-विहित
 मक्तप्रयोअनमिषाधरति । अत्रापि स्वस्य निगुणसुगस्य 'कृत्तार्थन' गुणिसुगपना
 पमानमविषाधरति । एवं तादृशास्वचरिद्वयनविषय मिष्यात्परस्य प्रद य चाय
 लोकाविषयममि प्रमहात् किञ्चिन्-ददयन्-' मिष्यात्परप्रतिता जन' भाविषदिकादि

मिथ्यात्वात्—अनमत्बहिर्भूतो लोकाः 'दधीयति' इवानिवाचरति, ब्रह्मर्षीमाराधयतया
 देवत्वेनाभ्युपे[ती]ति यावत् । उरुद्रोपिभो—रागादिमत्तो लोकप्रतीतान् हरिहरादीन्, क्व
 महावीरान् वीतरागान् लोकोत्तरविभ्रुतान् अदधीयति—अनाराध्यत्वेनानुमन्यते । अथ क्व
 सू—एतन्मिथ्यात्वमिति चेत् ? उच्यते—अतस्मिन्—तदिति प्रत्ययस्यैतच्छब्दत्वात्, तस्मान्
 न रामादिमन्तो देवाः । तथा सर्वदधीयति—सर्वविद्यमित्यमित्यन्यते मूर्खसुखपरिवर्त-
 अन्यपरतीर्षिकसमूहं प्राप्नोतिपातायनिवृत्त । तथा तत्तद्वृत्त—समस्तछास्त्ररहस्यवेदिनं पञ्च
 महाअतपारिथ सर्वज्ञप्रार्थं शुभप्रधानधरिं 'मधीयति' मूर्खीयति । एव च उच्यते गुरावञ्च
 स्वारोपो मिथ्यात्व-विभ्रुमिमत, एतावता चागुरौ गुरुभावना गुरौ चागुरुधीरिति मिथ्या
 स्व सञ्चित । ए-मार्गीयति—उत्पद्यत्वेन मन्यते अैनमार्गं, अपय—कृतीर्षिकमत्तं सम्बन्ध
 धीयति सन् मार्गीयति तदा स्वमगुणाप्रणयमित्यादि तु पूर्ववत् । तदावर्ष्यम्—एतन्मि
 थ्यात्वोपहृता यदेव विपर्ययञ्च सर्वमवसाय गुणिनो द्विपन्तीति ह्युच्यते ॥ ३२ ॥

ननु किमिहानीं गुणिभिः प्रयोजनं ? सङ्ग एव मयवान्—निशेषदोषमोषधमः
 समाधीयतां, मगवताऽपि च तस्य महत्त्वेन नमस्कृतत्वात् तथा च तदाह्वया वर्षमा
 नामां मोक्षः प्राणिनां सम्पत्स्यत इत्याद्यह्वया—धुनासनसङ्घबद्धवर्षिनो मध्यमनस्याद्येव
 पूर्व मोक्षामावसुपदिदर्शयिपुराह—

सङ्घाकृतचैत्रकृतपतितस्यान्तस्तपं वान्धव ॥ ३३ ॥

व्याख्या—'बन्धवो' धर्मादिनो मध्यमनः । ए एवावसत्वात्—सुखत्वात् सर्व
 रहितत्वात्—च 'हरिया' मृगाः तद्गतस्य—तत्समुदायस्य—उत्पद्यप्रवृत्त—उत्पद्यप्रवृत्तः
 भुवद्भाननिरपेक्षः स्वच्छन्दचारी सातलोत्तुपः साधु—साध्वी—भावक—भाषिकासमवायो
 भूयानिह सङ्घ उच्यते, स एव बलिष्ठत्वात् क्रूरत्वाच्च 'व्याघ्रः' शार्ङ्गस्तद्वृत्तस्य—उदधीन
 स्य—दासवत्—पञ्च तत्र निपोष्यस्येति यावत् । द्वितीयपक्षे प्रासन्निपयीभूतस्य 'मोक्ष' इति
 श्लिष्टपद, तेन बन्धुपक्षे 'मोक्षो' निर्वायं, हरिणपक्षे च कृष्टं व्याघ्रात्पलायनमिति
 यावत् । 'कृतः' कः स्यात् ? न कश्चिदित्यर्थः । ननु सुकरपनुगुणा—जुष्टाना—मावाचस्य
 मोक्षामावः, किमायातं ? सङ्घस्येत्यत आह—'सुखस्ये' निश्रेयसार्थं 'कश्चित्तदानधील
 तपसोऽपि' स्वधुस्त्राविहित धिनादिवितरण देवपारित्रानघनादेरप्यास्तां तदितरस्वेत्यपि
 छन्दार्थः । क्व तर्हि मोक्षामावः ? इत्यत आह—'सङ्घाय' शिङ्गिसमुदायाय 'देयानि'
 कृतानि । इयेप्रापेति प्रा तद्धितः । एतच्च 'सङ्घाकृतानि' भवत्कलोकेन मक्षया स्वप्न
 विधेन निर्माप्य शिङ्गिभ्यः सत्—देवजनयैव वासाद्यर्थं समर्पयन् तदापचीकृतानि 'वैत्यानि'

त्रिनायतनानि, तान्येव ' कृटा ' हरिषबन्धनयंत्रविशेषाः । अथ कृटय बन्धहेतुरभि
 धीयते, मोचनहेतु-बन्धनहेतोर्येर्महद्वैषम्यं, तथा च सिद्धान्तविधिना लिङ्गिनां निभा
 निशासद्विरेष्य भाद्वैषानि चैत्यानि विधाप्यन्ते तानि संसारगुप्तिमोचननिबन्धानि
 मबन्धि, एतानि प्रकृतचैत्यानि मुग्धान् मोत्साह्य स्वनिशासाद्यय कथम्-आह्वन्मामी भाद्र
 बस्माक मोग्या भविष्यन्तीरयाश्रयेन तेषां तत्र ममकारोत्पादनन नियमाद्यर्थं लिङ्गिमिः
 कारितानि, तत्कथमेतेषां मोचनहेतुत्व ! प्रत्युत बन्धननिबन्धनस्वमेव । एव चैत्यानां
 कृटैरस्यन्त बन्धहेतुसाम्यना-मेदविषय्यणाद्युक्त उपमानोपमेयमात्र इति । सङ्गत्राकृतचैत्य
 कृटेशु ' पतितस्य ' प्रतिपद्यस्य कथञ्चित् सत्यय प्रतिपत्सारपि तत्र गोष्ठिकृत्वादिना स्व
 कारितप्रतिमा ममत्वादिना वा नियमितत्वात् ततो निर्गन्तुमशक्यस्त्विति यावत् । द्वितीय
 पद्ये ' पतितस्य ' बद्धस्य । तथा ' अन्तस्तरां ताम्यतः ' मन्मार्गबहुमानिस्वात्ततो निर्वि
 ममिपोरपि निर्गमात्तामात् भविता कृदाधितदिन यत्रतस्मात् अमत्यपाद्दह निर्गमिष्यामि
 इत्येवं तरामतिशयेनान्तराकारयमभ्य ' ताम्यतः ' सिद्धमानस्य, कृत ! इत्यत आह-
 तच्छब्देन सङ्गः परासृष्टयते, तस्य-सङ्गस्य ' मुद्रा ' चतुर्दशपादिकाः पर्वतिथया, एतद्वा
 धार्यसंबादन तपोनियमादिकृते प्रमाणीकृत्यया, नान्यधेत्येवमादिका कथवस्या, ततः
 सुद्रेषु प्रवर्धिता, बराकान् मुग्धसारज्ञान् हा ! धनुं बागुरा इव । ततश्च त-सुद्रेषु
 ' रवं ' निविष्ट ' पाशो ' मृगादिबन्धनार्थं द्वरकादिनिर्मितप्रन्थिमिश्रेषः तेन ' बन्धनं '
 संयमन, तद्वत्-स्वदन्वितस्य । सहि सङ्गमुद्रामुद्रितः ततो निर्गमनवाचामपि कस्यापि
 पुरतो बन्धु न शक्नोति, किम्पुनर्निर्गन्तुमित्यर्थः । तथा एतस्य-सङ्गस्य क्रम-स्वभिर्दिष्टा
 रप्रतिस्नात्रादिका परिपाटी, तस्त्वायिन-स्वद्वर्तिनः । द्वितीयपद्ये तु हरिणप्रहारार्थ-
 श्लिष्य सञ्चितः पादः क्रम तद्गोचरगतस्यति । ततोऽयमर्थ-पथा व्याप्राप्तविषय
 स्य तन् क्रमगोचरस्य, तत्रापि कृटपतितस्य, अन्यथा हि पलाय्यापि कथञ्चित्तो मोक्षः
 सम्भरति । तत्रापि निर्जिगमिषया चेतसि ताम्यतो पादसंयमितत्येनाङ्गस्पन्दनमात्रमपि
 कर्तुमशक्यस्य हरिणजातस्य स कथञ्चित्तो माद्यः सम्भवति, एवमस्यापि चैरपप्रति
 बद्धस्य स-मार्गस्युद्दया निर्गन्तु मनसि सिद्धमानस्यापि सङ्गमुद्रया कीलितरदेन मत्स्या
 म्युपगमं प्रति उपन्तुमप्यशक्यतः तत्क्रममनतिक्रामतः सम्प्रतिगमन सङ्गादावश्यस्य अन्त
 सन्दोहस्य न निर्वास्य सञ्जायत इति । अथ कथमिह सङ्गस्य मूर्तया व्याप्तेनोपगमनं ?
 अत एव सुखदीप्तताञ्जुरागात् सङ्गमपि मह इत्यभिदधता प्रापञ्चिक प्रतिपादित
 विद्वान्ते । यदाह-' असेष संष ज, मज्जि रागेन बद्ध दोउम । उेमो वा मुने वा,



पश्चित्तं व्याप्य तैसि ॥ १ ॥ ” तस्माद्युक्तं श्रूयते प्रकृतसङ्घस्य व्याप्यतया[नि]रूपणं,
 तथा च सिद्धः तद्व्यस्य प्राप्तिगणस्य मोक्षामात्र इति । नन्वेवं तर्हि सिद्धान्तोक्तव्यस्य
 सङ्घस्य सम्प्रत्यमात्रात् मयन्मते तीर्थोच्छेदः प्रसज्यत इति चेन्न, यदुक्तमागमे—“निम्नत
 नाप्यहायो, दस्यसुहो चरित्तुगुण्युतो । तिरययरायात्रिजो, पुण्यं परारिसो संघो ॥१॥
 आयममभिर्यं ज्यो, पकवेह सद्दह कृण्यं अहमधि । तेहुकर्मद्विजो, इममकाले वि सो
 संघो ॥ २ ॥” अन्यथा “दुप्यसंहतं चरमं” इत्यादेराहुःपमात् चारित्रानुवृत्तिप्रतिपाद
 कस्य मगवद्व्यसनस्य व्यापातापत्तेः, भावसङ्घमन्तरेण तावन्तमनेहसं चारित्रानुवृत्तेरस
 म्भवात् । ननु भवतु सिद्धान्तप्रामाण्यात्—इदानीमपि भावसङ्घोऽप्यपीवांस्तथापि मया
 तावन्न दृश्यत इति चेत् ? अर्थाद्विहितत्वेन मात्सर्येण वा भवतः तदवर्जनस्या—न्यथा
 सिद्धत्वात्, दृश्यते च कपायकलुषितचक्षुषां सन्निकर्षेऽपि निषेधो मनुष्यादेरनुपलम्भा,
 एतो यदि स्व शूद्रपक्षस्यहयास्तुतदा मात्सर्यदूरसार्यं माप्यस्थमास्थाय शूद्रमप्रेषणा
 परीक्ष्य भावसङ्घं, येन कश्चित्प्रेषसे, मैत्रमेव नास्तिकतामवलम्ब्य मयाम्मोषो मङ्गी
 रिति । तस्मात् ममभद्वचनापथाऽनुपपत्तया सम्प्रत्यप्यस्ति भावसङ्घः, स एव च प्रेषा
 यता हुस्सङ्घता परिहारेनाभ्युपेतव्य इति ह्युच्यते ॥ ३३ ॥

तदेवमौद्देशिकमोक्षनादि द्वारदक्षकेन सिद्धिभिः प्रज्ञापितस्य चर्मस्योत्पत्त्यप्रकाश
 नेन अज्ञानां चेतसि कोषाभिर्मात्रं सम्भाषयंस्वरक्षणं तत्प्रदर्शनप्रयोजनमाभिधिर्मीर्षुराह—

इत्थं मिथ्यापक्षकथनया तत्त्ववाऽपीह कथित् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—“इत्थं” प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण ‘मिथ्यापक्षकथनया’ चैतयवासि
 प्रकृतितोत्पन्नमार्गप्रकृतनया करनभूतया ‘तत्त्वयाऽपि’ यथार्थयाऽपि, असत्यया हि
 तथा कोपोरपादापि कस्यापि सम्भाष्यते इत्यपि शब्दार्थः । ‘इह’ लोके प्रवचने वा
 ‘कथित्’ विनशासनस्यो मा हासीत्, यदिद मिथ्यापक्षकथनप्रकृतं ‘अनुचित्’
 असङ्गतं, यदि हीदं रागद्वेषाम्भामतत्त्व विधियेत तदाऽनोचित्य स्यात्—न चैवमस्ति । अपो
 इत्यानन्तर्पेऽप्यर्थः । तनानुचितज्ञानानन्तरं ‘मा कृपत्’ मा कृप्यत् ‘कोऽपि’ कथित् ।
 यदि द्वेत्तदनुचितं स्यात्तदा तज्ज्ञानान्तरं कोपोऽपि कथञ्चित् पुन्येत, न चैव, तस्मान्न
 कोपनीय । अथ यद्यत्र मिथ्यापक्षकथनेन परेषां कोषाभिर्मात्रं तदाऽपि न कथनीय
 एव, परसङ्कोचहेतोः सत्यस्यापि बधनस्यावकल्पस्थेनाभिधानात् । तस्मात् हेतोर्न
 भ्रान्त्या-साधुमाश्री भावकभाषिका चैत्यावाकारदर्शनात् आर्हतमेतत्प्रवचनमिति मिथ्या
 ज्ञानेन, नहि सिद्ध्यादयः तत्रत आर्हिताः, उक्त्यायेन तेषां तथा त्वस्यापाकरणात् ।

तथा—एतदपि ब्रह्माः कृषामनावामितान्तःकरणे वस्तुतोऽनार्हतम् अध्येतल्लिङ्गि वस्मोर्हित
 मिति विपर्यस्यन्तीति ज्ञेयान्तिताया 'कृषयपतितान्' कुमार्गप्रस्थितान् 'मून्' मानवान्
 'म्रेष्य' अबलोक्य 'तस्मप्रोहापोहाय' कृषयपतितनर—प्रागुक्तप्रपञ्च-मिथ्याज्ञानोपनोदय
 'इदं' एतल्लिङ्गिनां मिथ्यापद्यस्वरूप 'किमपि' दिक्षुमात्र 'कृषया' कृषममी मूढाः
 तीर्ष्यामासकृदर्थिताः कृषयस्वरूप विज्ञाय तस्परिहारेण मत्पद्यमम्पुपेत्य मभोदधि तरि
 प्यन्तीत्यनुकम्पया 'कल्पित' मर्ष्ये प्रतिपिवादयिपया मकलं सङ्कल्प्य प्रथम चेतसि
 सजितं, ततो 'कल्पित' अश्ररचनया इच्छं, तदन्तरेण परस्व पुरतः सम्पप्रतिपादितं
 दुःखकयत्वात् । चः समुच्चये । अतः कृषयपङ्कनिमज्जन—नरनिक्रोहरणाय मया किञ्चित्
 मरिरगमिदमिति सुष्ठूक्त मगवता प्रकरणकारेण्येति वृत्तार्थः ॥ ३४ ॥

अथ क्वमिति दिक्षुमात्रमेवामिहितं ? यावत्ता निरुक्षेपदोषप्रकाशनेन हि मिथ्या
 पयाः सुष्ठानः सुस्त्यस्य मवतीत्याशङ्क्य तभिरासद्योतकेन 'पथ' इति पदेनान्तरापूर्व
 तदोषामानन्त्येनामिधानाशङ्क्यत्व निवर्धनयापि भावयन्माह—पथः—

प्रोञ्जतेऽनन्तकाळात्कलमकमिच्छये नाम नेपथ्यतोऽर्हन् ॥ ३५ ॥

व्याख्या—'पथ' इति यस्मादेतोरस्मिन् दुरभ्येऽनन्तकाळात्प्रोञ्जते यो दोष
 सङ्कष्या विषयेदित्यादिसम्पन्नः । तत्र 'प्रोञ्जते' सञ्जाते 'अनन्तकाळात्' अनन्ते
 नानेहसा, अनन्तोत्सर्विण्यसर्विणी परिवर्षनेनास्य कुमार्गस्वाभ्यर्षदञ्जकान्तः पातित्वेन
 सिद्धान्ते प्रादुर्भावप्रतिपादनात् । 'कलमकमिच्छये' वृष्यमापातकनिवासे, दुष्पमाकालो हि
 अपरकासापक्षया महापापः, तत्रमात्रातीवासमञ्जसप्रवृत्तिदर्शनात् सम्प्राप्यत—सकलं
 दुष्पमामल दुरभ्येऽस्मिन्—निवसति, अथवा 'कलिरेव' कलह एव 'मल' किङ्क, तस्य निलये ।
 तथा 'नाम' अमिधान, यथा लिङ्गदर्शनेऽपि लोका वक्तारो—मपठित—अमी ज्ञेना
 अमी सि(क्षे)ताम्बरमिच्छ इत्यादि, नपथ्य—रजोहरणादिवेषः, ततो द्—इः । तत्रम नाम
 नपथ्यतः—सुविहितसाधारणात् नामभ्रवणात् नैपथ्यदशनायाह—माग आन्ति—तापिरक
 मिनपयसाद्वय 'दधानेऽपि' विद्याये, मन्वर्ष प—माः तर्हि मिनमाग एव मविष्पतीःपथ
 आद—अथ येति प्रतिकूलपथात्तरयोतकमप्ययम् 'तद्वतः' परमायतः 'तद्विमरे'
 अर्ह—मार्गपातुक, अयमर्थः—यथा अमिमराः' प्रच्छन्नपातुकाः स्ववेपेण राजादिपार्श्व
 कर्तुपञ्चकुवन्तो यवपरावर्षेण राजादिक व्यापादयन्ति, तथेतेऽपि शूद्रप्यवपमाह—मार्गो
 पठद तथाविधातुमपारपन्तो यमिवेपण विरुद्धप्रवृत्तयेऽपि तादिनाऽह—मार्गोऽपि विरुद्ध-
 मवति—अमिमराः । तत्रम दुरभ्य—दुरभ्यवर्तिनोरमशोपपारात् इत्यस्य पामः । 'अस्मिन्'

प्राग्बर्जितस्वरूपे 'दुरभ्ये' इत्यर्थे 'कारुण्यात्' मास्मामी ब्रूयम् अथा अस्मिन् कुरव
 पद् इति दयाऽप्यवसायात् 'यः' कश्चिन्महामत्स्यो 'सुप्तु' लिङ्गिमावनाभाषितेषु मत्स्येषु
 'कुबोध' कुदेष्यनोत्पादितमसत्स्येषु सत्स्यब्रह्म 'निरसिसिप्तु' विभिसुः । यदि हि
 कथञ्चिदमीषां मूढानां दुरभ्यदोषसामस्य दर्शनेनार्थं कुबोधो विष्वंसते तदाऽपि उपकृता
 भवन्तीत्याशयेन 'दोषसत्स्येषां' इत्येषां 'विषयेषु' अभिधिरसेत्, एतावत् सत्स्येषां अत्र
 इत्यर्थे दोषाः सन्तीति वक्तुमिच्छेदित्यर्थः । स पुमान् 'अम्मो' अल अम्मोषे-रर्षवस्य
 अलं 'प्रमिसेत्' इत्यद्वयम् इति तुलुकादिभिः संश्लेष्यासेत् । अलप्रिअलप्रमिस्ताभि-
 दर्शनेन दुरभ्यदोषाणामसत्स्येषुतासिञ्जा अपरितुष्यन् विवक्षितानन्त्य विवक्षापविषवा
 निदर्शनान्तरमाह- 'सकलगगनोत्तुङ्गनं' पद्मेषां समग्रान्तरिक्षान्त प्रापय, चेति वद्वान्तरे,
 विधिरसेत्-विधिर्येत् । अयं च निदर्शननामासङ्गारः । ततोऽयमर्थः-यथा सागराम्भो
 ऽतिभूयस्त्वात् प्रमातुमशक्यं, तथा दुरभ्यस्य महामिथ्यात्वरूपस्य लोकोत्तरविकृतासम-
 स्येष्टित-अतस्यसम्पुष्टिर्गत्वात् तदोपसत्स्येषाऽप्यतिबाहुल्याद्भक्तुमशक्येति, अतो
 दिक्भावेनोदाहृत, तावन्मात्रेणापि केनाञ्चित्पुण्यारमना मोहापोहेन सत्स्येषाम्भुवगमो
 भविष्यतीति धिमेति वृत्तार्थः ॥ १५ ॥

ननु-सकल्यायेन लिङ्गिनः येत् यतयो न भवन्ति तर्हि न सन्त्येव, कश्चित्सम्प्रति
 सुतोक्तलक्षणभाषो यतयोऽदर्शनात्, तथा च ज्ञानदर्शनाभ्यामेव भगवतीर्षमनुवर्षत
 इति मन्यते त प्रत्याह-तथा-

न सावधान्याया न बहुल-कुलीलोचित-यतिः ॥ १६ ॥

व्याख्या-उच्येति, यथा सम्प्रति भूयांसो लिङ्गिनः सन्ति 'तथा' तेन प्रका-
 रेण विरलाः सुविहिता अपि, इत्येतदेवाह-तेऽद्यापि स्फुरिह यतय इति सम्बन्धः ।
 'आम्नायो' गुरुक्षिप्यप्रतिक्षिप्यादिक्रमेण सम्प्रदायाः 'सावदा' प्राग्बर्जित औद्देशिक-
 मोक्षनाद्युपमोक्षादः सपाप आम्नायो येषां ते तथा, अथा तेषां निषेधाः । अधुनातन
 कृत्यौद्देशिकमोक्षन-वैरपवासादिना सावद्यसम्प्रदाययन्तो यन भवन्ति, तथा 'बहुलं'
 दाबल-मतिचारपद्मेन समल, प्रकमाचारित्र, तत्रच बहुलचारित्रयोगात्सावदोऽपि बहुलाः
 ते च द्विविधा-उपकरण-देहमेदात् । तत्रोपकरणबहुला ये वर्णाभरयासति-मन्तरेणापि
 कदाचित् बहुलादिक पावन्ति, सस्फुण्यंशुकादि च क्षिप्यन्ति कदाचित्परिदपते च, पात्र
 दण्डकाद्यपि घृष्टं तैलादिप्रदणोत्पादित सेवकं च पारपठित, उपकरणमप्यतिरिक्तं प्रार्थ

यन्त इति । देहबहुशास्तु ये करचरणनखादीन् कदाचित् निर्निमित्त भूपपान्तीति । इमे च
द्विविधा अपि द्विप्यादिपरिवारादिकां विभूर्ति तपः पाण्डित्यादि प्रमथ च यज्ञः प्रार्थयन्ते,
तदावादाने न च प्रमोदन्ते, छेदाहंभातिचारैर्बहुभिः प्रबलिता अपि कर्मस्यार्थस्युच्यता
इत्यादिसंज्ञकपुष्पा बहुधाः । बहुक्त—“उपगारण-देह-चोक्ला, इक्षीरसगारबा सिपा
निर्ब । बहुमयस ऐयस्युता, निर्गमा वाठमा भणिया ॥ १ ॥ ” तथा कुरिमत् ‘घ्रीलं’
‘अराण येषां ते तथा, वेऽपि द्विधा-आसेवना-कषायमेवात्, तप्रासेवनाकुशीला ये ज्ञान
दर्शनवारित्रतपांसि किञ्चिदुपजीवन्ति, कषायकुशीलास्तु ये क्रोधादिभिः कषायैर्ज्ञानादि
गुणान् युवन्ति, अथवा कषायैर्ज्ञानादीन् ये विराजयन्ति भवोच्छेदायोपस्थिता
अपीत्यादि सञ्जमात्रं कुशीला इति । ततो बहुलाय कुशीलाभेति द्वन्द्वः । तेषामुचिता-
योग्या ‘पतिक्रिया’ प्रत्युपेक्षाप्रमार्जनप्रभृत्तिका साधुग्रामाधारी, तथा ‘सुक्ता’ रहिता
ये न भवन्ति, प्रत्यह यतिकृत्य च तत्—“पहिलेहणापमज्जभा-मिक्खिरिया-सोपसंजया
येष । पत्तगधुययवियारा, यद्विलमावस्सयाई ॥ १ ॥ ” इत्यादि दशविधचक्रवालसामा
पारीपरिण इत्यर्थः । बहुक्तं श्रीठमास्वातिवाचककृततत्सार्धस्ये भाष्ये च “पुलाक-
बहुस-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः” [अ ९ घ, ४९] [भाष्ये] पुलाको बहुसः
कुशीलो निर्ग्रन्थः स्नातक इत्येते पञ्च निर्ग्रन्थविशेषा भवन्ति । तत्र सततमप्रतिपातिनो
विनोक्तादागमात्-निर्ग्रन्थपुलाकाः । नैर्ग्रन्थ्य प्रति प्रस्थिताः क्षरीरोपकरणविपुष्याऽनुब
र्षिताः अक्षिपयस्रकामाः स्वतगौरवाधिताः अविधिकपरिवाराः । अविदिका इति न प्रसंय
यात् पूषामूठाः कर्चरिका कश्चिपकेष्ठाः, एवविषः परिवारो येषां ते, छेदसंज्ञकपुष्पाः
सर्वैश्चष्टेदार्ह अतीधारजनितप्रमलन-वैचिभ्येभ पुष्पाः, बहुधाः कुशीला द्विविधा-
प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलाश्च, तत्र प्रतिसेवनाकुशीला नैर्ग्रन्थ्य प्रति प्रस्थिताः ये
अनियतेन्द्रियाः अद्रितन्द्रियाः रूपादिविषयेष्यणकृतादराः कषयित् कषिदुत्तराण्येषु विरा
जयन्तः अरन्ति, ते प्रतिसेवनाकुशीलाः । प्रतिसेवनाऽधिकारे प्रतिसेवनापञ्चानां मूलगुणानां
रात्रिमोक्षनविरत्रिपुष्टानां परामियोगाद् बलात्काराणान्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाकः स्यात्,
येषुनमित्येक । बहुसो द्विविधः-उपकरणबहुसः क्षरीरबहुसश्च । तत्रोपकरणामिष्यक
चित्तो विविधविचित्रमहाभनोपकरणपरिमदपुष्पा-विचिर्षं हठमेदं, विचिर्षं-रकरीवादि
मिर्षंनैर्बहुमूल्योपकृतियुक् बहुविशेषोपकरणकाहापुष्को । बहु-विशेषे [ण] मृदु-दृढ-
दुर्बल-बलादि-पुष्कोपकरण आठाविसाषः, निरयं तरप्रतिर्तंस्कारसही, निरय-सर्वदा
‘तस्य’ उपकरणस्य ‘प्रतिर्तंस्कार’ प्रयाजन-दद्याव-चन-पटिकासंवेष्टनादिकं, तस्सेही
मिष्टरूपकरबहुसो भवति । क्षरीरामियुक्तचित्तो विभूषार्थं तरप्रतिर्तंस्कारसही क्षरीर

बहुशः । प्रतिसेवनाकुशीलश्च मूलगुणानविराधयन् सुचरगुणेषु काञ्चिद्विराधनां प्रतिसेवते ।
 कनायकुशील-निर्ग्रह-स्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति । पुष्पाकस्योत्कृष्टस्थितिषु देवेषु
 सहस्रारे, बहुश-प्रतिसवनाकुशीलयोर्द्राविश्रुतिमागरोपस्थितिषु आरणाभ्युत्कृष्टयोः,
 मर्षेणामपि लघन्यः परयोपमपृथक्स्थितिषु सौधर्मे तपपातः । अत्र च पुष्पाक-निर्ग्रह-
 स्नातकपरिहारेण यत् बहुसङ्ख्येणोचितक्रियायुक्तपतिगणेषु तत्तैरेव सर्वतीर्थकारणां
 तीर्थप्रवृत्तेः, “ सवमिनाणं सन्धा, बहुसङ्ख्येणैर्हि बहुषु स्थितं । ” इति वचनात् । तथा
 ‘ न युक्ता ’ न स्पृष्टा ‘ मतो ’ आत्पादिमिरात्मोत्कर्षप्रत्ययः ‘ ममता ’ गृहस्वादिषु
 प्रतिष-भो, ममैते योगक्षेम वहन्ति, ततो यद्यमीषां काप्पनिर्हं न मम्यद्यत इत्वादि
 स्नेहेन तत्सुखदुःखाभ्यां यतेरपि तद्वचेति पाठत् । ‘ आजीवन ’ आजीविकानिर्वाह
 स्वस्मात् मयं, तदभावसम्भावनाया मीतिर्गृह्णिमिर्षिदितश्रेयस्याः सिद्धान्ताभ्यपनादिकिर
 हिता वा गृहस्वच्छन्दोऽनुवृत्तिं विना निस्पृहयता शुद्धं प्ररूपयन्तो वा, एतत्कृतनिर्वाहा
 भावेन कथं वयं जीविष्याम । इत्याद्यभ्यवनाय इत्यर्थः । ततश्च मदभ्येत्यादि इन्द्रः ।
 तैः । महासप्तानां हि स्वजन-जन-पुत्र कलत्रादि-मङ्गल्यागेन प्रव्रज्यात्राहिणां कृतस्यो
 गृहस्वादिषु ममताद्यभ्यवनाय ? क्लीबानामेव तद्भावात् । एवं च सति ये ममताविमिर्ष
 सिताः । तथा ‘ सङ्केशः ’ अविच्छिन्नप्रवाहयता प्रतीयमानो रौद्राभ्यवसायः तस्य ‘ आवेशः ’
 आवेशः-तस्कर्यो येषामिति व्यधिकरिणो बहुश्रीहिः । ते, तथा ये न भवन्ति, सञ्जलन
 कनायोदयस्वेन तेषां तन्निव-जनस्वप्रथमादिकपायोदयमाभावात् । ‘ न कर्मनिवेशा ’
 अनामोगादिमाभ्यवनाकारं स्वयं प्रवृत्ते अभ्युपगते वा वस्तुनि कृत्स्नमानसाप्रवृत्तौ
 य न भवन्ति, तस्कारणमिध्याभिमानाभावात् । ‘ न कपटप्रिया ’ मायाप्राधान्येनाहु
 छाननिष्ठा ये न भवन्ति, तन्निवृत्तजनस्वनापरिणामाभावात् । ममताजीवनमयादयश्च
 साधुत्ववाद्कृत्वात्-सतीनां मर्षया हेया एव इत्यतस्तेषामिह निषेधो विशेषेण प्रदर्शितः ।
 यदुक्तं-“ एवं च संकलिङ्गा, मादृष्टाणमि निवृत्तच्छिन्ना । आजीवियमयवत्त्वा, मूढा
 नो साहुभो नया ॥ १ ॥ ” य एव गुणगणोपेक्षास्ते ‘ यतयः ’ साधवः ‘ अद्यापि ’
 सुसाधुरदिसतया शश्वित दुष्पमाकालऽपि, आरतां दुष्पमसुपमादावित्यपि शब्दार्थः ।
 स्युर्मर्षेषु ‘ इह ’ प्रवचन ‘ अप्रतयः ’ सिद्धान्ताभ्यपनाभ्यापनस्यास्मान्भावव्यपरा
 यणाः, अभ्यपनादिकृत्स्वपता विपयतयेष तेषां प्राप्तीपदिष्ठाभवत्वात् । यदुक्तं-“ शास्त्रा
 भ्ययन चाप्यापन च, मुश्चिन्तन तपारमनि च । समरूपन च मतनं, यतनः मर्षारमना
 कार्यः ॥ १ ॥ ” न तु त्तिद्विन इव प्रव्रज्यादिनमारभ्य व्यवहारम-त्रादिप्रयोगतत्पराः ।
 एतेन तपासु-मानाद्यमात्रप्रतिपादितः, महारमनां यत्राभ्यपनादेरेव कृतत्वात् । एतेन

न मन्त्येष सम्प्रति पयोःकलुष्यमात्रो पतयोऽर्द्धनादित्यादि यदाशङ्कितं तवपास्त,
 कालादिदायाद्-प्रायश्चः तथापिच-पतीनामर्द्धनेऽपि कापि ते न स-तीत्यनाश्वासस्य
 कर्मयोग्यत्वात्, तदुक्तं-“ कालाद्दोषयो कद्वि, अद्वि दीसति तारिता न
 अर्द्ध । सवत्य तद्वि नरिषधि, नेष कृजा भगा[स्त्वांस] प्रासं (?) ॥ १ ॥ ” आतीर्थमा
 गमे बह्व्य-कुशीलानामनुह्विभ्रवजात् । यदाह-“ न विद्या तित्थे नियठेहि, नातित्थं च
 नियठया । छकायस्रमो भाव, ताष अणुस्मज्जणा दुन्द ॥ १ ॥ ” इति, बह्व्यकुशील
 योरनुह्विचिरिति तत्र व्याख्यानात्, तथा च ज्ञानार्द्धनाम्पामेष सम्प्रति तीर्थमिति
 हुवागस्य भवत् प्रायश्चित्तापघेः, यदाह-“ कसिधि आसो, र्दमपनाणेहि बह्व्य
 तित्थं । पुच्छिम च चरित्त, वयमापे भारिया चठरो ॥ १ ॥ ” असह्यग्रहात् तदनिच्छ
 तश्च सङ्गवाद्यस्वप्रमङ्गात्, यदुक्तं-“ ओ मण्ड नरिय चम्पो, नय सामाह्य न चेत प
 यपाई । सो समयसंपन्नश्चो, कायवो ममणसंयोग ॥ १ ॥ ” तस्मात् मन्त्येषायापि
 बिरलाः प्राग्भर्गितगुणा मूनयो । यदाह-“ सो मामरासिमहविद्वुरिष वि, तद दक्षित्ये
 वि इह स्त्रिषे । अरिय द्वि[धि] प आ तित्थं, बिरलतरा कद्व सुगिपवरा ॥ १ ” इति
 वृत्तार्थः ॥ ३६ ॥

सद्व द्रुप्यमायामपि सुबिहित पतिमघां व्यवस्थाप्य माम्प्रत मामान्यविशेषगुण
 वचसा तेषामप वन्दनीयतां प्रदर्शयन्नाह—

संविधाः मोपदेष्टा भुतनिकपविद्ः सुत्रकाकापपेष्टा ॥ ३७ ॥

व्याख्या—संविधाः सत् साधनोऽस्मिन्निति सम्प्र-चः । ‘संविधा’ मोघामिता
 पुष्ताः मवमीरवो ना, न तु परलोकावैश्वर्येनहलोकप्रतिबद्धाः । एवविधा अपि स्वनि
 स्तारका एव भविष्यन्ति, तथा च किं ? नैरित्यत आह-‘सोपदष्टा’ धर्मदेशना
 तत्पराः, न स्वालस्य मातृशीलत्वादिना तद्विमुक्ताः, त विना मन्वोपकारामाशाचस्य
 चावश्य यतिना विधेयत्वात्, अन्यथा आत्मस्मरिस्वमात्र प्रमङ्गात्, यथाकथञ्चिन् तद्व्य
 सुक्तिगासुकनापि च कृतकृत्येन मगपता मविश्वोपधिफीपया तदाहरणात्, ग्लादि
 नाऽप्याचार्येण धर्मव्याख्यानमवश्यं कर्तव्यमित्पामग्रेऽभिधानाथ । यदाह-“ रा चेत
 मचगाई, सेलकाह्य सद्दोमगम्पुयि । एरं वि निषं, चकनागिजधि भावरयो ॥ १ ॥ ”
 ‘भुतनिकपविद्ः’ जागमरदस्यनिपुणः, एतेन गीतार्थतया धर्मकथाधिकारित्वमाह,
 जगीतायस्य तदयोगात् । एरंविधा अपि स्वय क्रियाद्विधिता भविष्य-तीत्यत आह-
 ‘घत्रकनापपधं’ अरियन् घत्रे असुपिमन् कान, आदिग्रहणाच्छरीरवलादिप्रदः, एरंविध

च बले सति विधीयमानमेतदनुष्ठानम् अस्माकमात्मसंपन्नशरीरयोरवाचकं मविष्णवीति
 देहसमयबलानुसार्यनुष्ठानं विहारकमादि क्रियाकाण्ड येषां ते तथा, अनेन पद्मकेन
 ज्ञानक्रियातयानुगामित्वं तेषां निषेधित, तत्प्रधानत्वात् दीक्षायाः केवलपौरनिष्कलत्वा
 मिधानेन समुदितयोरेव तयोः पद्मू-धपोरिवेष्टफलसाधकतया तैः इहत्वात् । इवकृपा
 अपि कुतोऽपि कदाग्रहगरलोदूगारादि-ठस्त्र प्रज्ञापयिष्यन्तीत्यत आह- 'सुद्धमार्गप्रकृ-
 तपटवः' यथार्थभूतपथप्रकृतचतुराः, अणीपसोऽप्युत्सृज्यत इत्यर्थे विपाक विन्दतः
 कथमपि त एव बद्धन्तीत्यर्थः, अत एव कथञ्चित् कर्मदोषात् परमकारणात्तेनापि
 सुद्ध एव मार्गः प्ररूपणीयः, यदुक्तं- "सुद्धं ह्यवशं प्यसौ, शरीरवृद्धलाह अपिइ अत्र
 मत्स्यो । परमपरये असुद्धो, सुद्ध मगं परुविजा ॥ १ ॥" तथाविधस्यापि सुद्धपथ
 प्ररूपणात् प्रेत्य बोधिप्राप्त्या कथञ्चित्संसारपारावार निस्तारात्, असुद्धपथप्ररूपकस्य
 दुष्करक्रियाकारिणोऽभ्यसुत्र बोधिहत्याऽनन्तमवनिर्वर्धनात्, अत एव तादृशस्य दर्शन
 मात्रमपि भूतं निवारितं, यदाह- "उत्तमगगदसवाए, चरण नासंति त्रिभरिंदायं ।
 वावमदसया स्रस्त, न ह्यलम्मा तारिसा दहु ॥ १ ॥" अतः सुद्धपथमव ते प्रथमन्वि,
 अत एव 'प्रास्तमिष्याप्रवादाः,' स्वपथं निराकृतोत्सृज्योवावथ-वकथ्यता परपथे
 तु निरस्तप्रवाहुकमताः 'बन्धाः' यथाईं द्वादशावर्षवन्दनादिना प्रगमनीयाः
 'सस्तापवः' सुविहितपतयः अस्मिन् भिन्नसासने दुःपमाकाळे वा 'निपयो' द्रव्याव-
 मिग्रहः 'धमः' कृपापनिग्रहः 'दम' इन्द्रियबन्धीकारः 'औचित्य' सर्वत्र योग्यताऽप्यु-
 सारेण विनयादिप्रयोक्तृत्वं 'गाम्भीर्यं' अलक्ष्यहर्षेन्यादिभिकारस्व 'धैर्यं' विपत्स्यपि
 चेतसोऽवैकल्यं 'स्वैर्यं' विमूढस्य कार्यकारिस्व 'औदार्यं' विनेपातीनामप्यापनादि
 विपुलाक्षयता 'आर्यव्या' सत्पुरुषकर्मवृत्तिता 'विनयो' गुर्वादिष्वभ्युत्थानादि प्रति
 पत्तिः 'नयो' लोकलोकोत्तरा-विहृद्-वर्षित्व 'दया' दूःस्वित्ता
 करणत्वं 'दास्य' धर्मक्रियास्वनालस्यं 'दाक्षिण्यं' सरलचित्तता,
 गुणैः 'पुण्याः' पवित्रा मनोहा वा साधनो बन्दनाद्यहन्तीति वृथा

साम्प्रत प्रकरणकारः प्रकरणं समाप्तं
 अथप्यन् अक्षर-धेन स्वनामधेयमाधिभावयिषु

विभक्तिशुभगर्भमस्मरमनासाः

१३८

कथाख्या-—विनं बन्द् इति सम्बन्धः । 'वि-
 हृद्विषयस्वेन् आत्यन्त शोभमानं 'अगर्वं' उ।

‘ध्रुवोऽह्न’ सिद्धान्तातिक्रमे अनाद्याद्, माशां-मनोरयं ‘ददाति’ पूरयति
 आद्याद्, न आद्यादोऽनाद्याद्; त, ध्रुवाद्यातिक्रमकारिणः पुंसो नानुमन्तारमित्यर्थः ।
 सत् ज्ञानपुमर्थि, सत् ज्ञानन-केवलज्ञानेन लोकालोकावमासकत्वात्-मास्वन्त ‘मिन’
 तीर्थकरं, तथा “सबसुरा अर रूप, अंगुष्ठपमाण्यं विठञ्जिआ । अणिपायंगुष्ठपदे, न
 सोइए ठं अहि गालो ॥ १ ॥” इत्यादिबचनेन ‘वरा’ मर्षाद्भ्रुमगा ‘वपुः भीः’
 अतीरकान्तिः, सैव ‘चन्द्रिका’ अगतीअनप्रमोदवापित्वात् कौस्तुभे, तथा ‘भेस्वरं’
 नक्षत्रनाय, चन्द्रिकया चन्द्रवद्रूपःधिया त्रिसगदाह्लादकमित्यर्थः । ‘चन्द’ स्तुव
 ‘वपुं’ स्तुत्य ‘अनकषा’ बहुधा ‘अमुनैः’ दानवमानवैः ‘शक्रेष’ मपोना,
 ‘वः’ मसुवष, एनच्छिद-करमपसर्वरूप ‘दम्मारि’ आत्मनिष्ठापक ‘विदुषां’ विपश्चिता
 ‘सदा’ सर्वदा ‘सुववसा’ मधुरागिरा ‘अनकान्तरङ्गप्रद’ किञ्च अैनदर्शने त्रैलोक्य
 वर्धिसकल वस्तुघात सदसमित्यानित्यादिरूपतयाऽनेकान्तात्मकमभ्युपगम्यत, तथैव
 प्रमाणापवसात्, न तु परतीर्थिकवरसदेवामदेव वा नित्यमेवानित्यमेव येन्यादिरूप
 तथैकान्तात्मक, तस्य विबाधसहत्वात् । तथाऽनकान्ते-ऽनकान्तात्मकत्वादे रङ्ग-मनुराग
 प्रदत्त यः स तथा स, अनकान्तवाद्भीरुपुपादक, सर्कगृहकाररसस्यन्दिन्या वाचा तथा
 मगवाननकान्तवाद् व्युत्पाद्यति, यथा पिद्वांसः शवदर्शनत्वागेन तत्रैव रज्वन्त
 इत्यर्थः । ‘चक्रमिद’ चक्रबन्धः ‘मापमर्म’ यादृश्या वर्जन्त्यामपरिपाय्या मापकाव्य
 स्पचक्रान्त ‘मापकाव्यमिद-शिष्टपालवष’ इत्यव्यरूपो नामबन्धः प्रादुर्भवति, इहापि
 तादव्येवति मापममतायः, अत्र च “अिनबल्लमेन गणिनेद् चक्रे” इति नामबन्धः
 स्वापना येव-एतथैव चक्राध्वरन्यासस्वरूप व्यक्तमिति वृत्तार्थः ॥ ३८ ॥

एव ज्ञानन प्रकरणेन मप्रपञ्च मिथ्यावपस्वरूपप्रकटित मसुभीमिनबल्लमसारायः
 क्रिमित्वाव प्रकल्पयथा लिङ्गिनो मवशिर्दूषिता ? इति कनाप्पुपालम्बास्तस्य च प्रति
 वचन तस्यै बह्व्यमाणवृचद्वयनाप-वस्तु अतस्तदपि प्रकृतानुपावित्वाद्देव प्रकरणान्त
 निबद्ध मदिदानीं व्याख्यापयत् इत्याह—

त्रिनशतिमतदुगे काष्ठनः साधुवपेः ॥ ३९ ॥

रुपागया—त्रिनशतिमतमव-मगवच्छासनयेव मिथ्यात्वादि वैरिभाररघावम
 ग्वात्-बटमूतम्बन मनिषधेऽव्यवत्वात् उन्नमितम्बन दुगाराह्मनाय ‘दुर्ग’ प्राकारः
 तन्मिन् ‘प्रमिभूत’ उपतुन-विदम्बित इत्यथ । माधुवेने-किङ्किमि-‘मम्मको’ मम्म
 गानिप्रदः, न एवाह्मनामनरगतानां नानाविधतावाविधाविश्वान् मउच्छ-स्तुच्छापिः

तस्य सैन्याः तदनुवर्षियेष्टितस्वात् सैनिकास्तैर्विषयिभिः—कामुकेः । द्वितीयपक्षे षष्ठी कृतवाङ्मतेः । अथ कथमेवविधस्यापि भिन्नमतदुर्गस्य विषयिभिरपि छिन्नभिरभिनव । इत्यत आह—‘कालतो’ दुष्पमासमयदोषात्, अभिभूयन्त हि कालवशान्महातेवस्ति नोऽपि, तस्य ‘स्ववशज्जजनानां’ सम्यक्वाचारोपणस्याग्नेनात्मायतीचीकृतवृग्धलो-कानां ‘स्वगच्छस्थितिः’ एतं यय सम्प्रदायागता शुभ्माक गुरवस्तस्मात् कदापिदपि न मोक्षस्या इत्यादिका प्राक्प्रतिपादिता निजगच्छमुद्रा ‘इय’ एषा ‘अधुना’ इदानीं ‘तैः’ साधुषुषैः ‘अप्रथि’ सर्वत्रैकमत्येन अतानि । ‘स्वार्थसिद्धौ’ कथमस्माक मते मोग्या भविष्यतीति निजकार्यनिष्पत्तये, अप्रायेऽनुरूपमुपमानमाह—‘शुद्धतेन’ निगद इव । एतदुक्तं भवति—यथा म्लेच्छसैन्याः कस्मिंश्चिदपि दुर्गे स्वशुद्धवलेन गृहीते प्रविषाद्यथ तदन्तर्भर्तिनागरिकलोकसंपमनाय शुद्धता प्रसारयन्ति, तथैतेऽपि छिन्नः स्वोपमोगार्थं मुग्धजननियमनाय गच्छस्थितिं प्रपयामसुरिति वृत्तार्थः ॥ ३९ ॥

ननु ते यदि गच्छस्थितिं सर्वत्र विस्तारयामासुरेतावताऽपि किं ? इत्यत आह—

सम्भस्य प्रतिमे कुसङ्गपुपि प्रोञ्जमिमे मस्मक—॥ ४० ॥

क्याक्या—मोहराजकटके प्रौढि अग्नपि लोकैर्षय कर्ष्यामह इति सम्बन्धः । ‘सम्प्रति’ अधुना ‘प्रोञ्जमिमे’ अस्पृदिते ‘मस्मकम्लेच्छातुच्छवत्’ मस्मराक्षि-तुरष्काधिपतिसारसैन्ये ‘अप्रथिम’ सुवस्वितयाऽन-पसाधारणे ‘कुसङ्ग एव’ प्राग्दर्शित-निर्गुणसाध्यादिसमुदाय एव ‘वपुः’ शरीरं स्वरूप यस्य तत्तथा, तस्मिन् । मस्मक म्लेच्छस्य हि दुस्तङ्ग एव स्वसैन्य, ततो यथा म्लेच्छोऽध्यादिसाधनेन परजनपदमपि मवति, एव मस्मकोऽपि प्रबलः दुःसङ्गवलेन मगवच्छासन मालिन्योत्पादनेन विरस्कृते, तदा ‘दुरन्तद्वदमाभये’ दुष्टासंयतपूजास्पन्ताभये, च सङ्गवले, ‘विस्फूर्जति’ प्रम विष्णौ, एवं च सति ‘प्रौढि’ स्थाति ‘अग्नपि’ प्राप्नुपि ‘मोह एव’ मिथ्याज्ञान मेव, छिन्नप्रद्युतसंसारमार्गस्याधिकारणत्वात् अतिदुर्बयत्वात् रामादिप्रमवत्वाच्च ‘रामा’ पार्थिवः तस्य ‘कटके’ अनीके प्रागुक्तस्य मस्मकादेः सर्वस्यापि मोहराजपरिच्छदधु तत्पेन तस्मककल्पत्वात्, अपमर्षः—मोहो हि दुष्ट मोहराजकस्यः तस्य च दुःसङ्ग-वलेनचतुरङ्गकलितो मस्मको म्लेच्छाक्यमहासामन्तकल्पः, दक्षमाभये तु स्वत एवातिप्रबलत्वात् साहायान्तरनिरपेक्षमेव द्वितीयमहासामन्तप्रकथं, ततो यथा कश्चिन्म हाराजधिरादो म्लेच्छादिमहासामन्तैर्भूमण्डलं साधयति, तथाऽयमपि मोहराजो मस्म कादिभिर्दिनशासनमभिभवतीति, ततो ‘लोकैः’ दुस्तङ्गवने तदापरे—मोहराजशासन

मनविक्राममिर्भूत्वादिमुद्रयस्वान् अविमुद्रयकारिभिरित्यर्थः । 'एकीभूय' दुष्टत्वेनैक
 मत्य विषाय, इय सकलजनप्रतीतिराक्रोश-तर्जन-हीलादिभिः प्रकारै राजबन्धसेन वय
 'कृद्ध्यामह' पीडयामह-उपहास्यामह इत्यर्थः । केन हेतुनेत्याह-'सदागमस्य'
 लिङ्गिप्रपित-मिष्यापवोत्पद्यत्प्रतिपादकस्य शुद्धसिद्धान्तस्य 'कृपयाऽपि' धर्मदेशना
 द्वारा निषारमात्रेणापि, यदि हि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण साधनदूषणोपन्यासे प्रकृतविषय
 परैः सह वादसुपक्रमामहे तदा न विघ्नस्त किमपि कुर्वीरन् इत्यपि श्रुद्धार्यः, तथा च वय
 शुद्धसिद्धान्तविचारं मन्मेम्योऽनुसिष्टययोपदिशन्तो नात्यपीयां समप्युपालम्भमर्हामः ।
 यदुक्त-"नेत्रे निरीक्ष्य विपकंटकसर्पकीटान्, सम्यक् पया व्रजत तान् परिहस्य सर्पान्
 कुमान-कुभूति-कुहटि-कुमार्गदीपान्, सम्यग्निषचारपथ कोऽत्र परापवादः ? ॥ १ ॥"
 इति वृथायाः ॥ ४० ॥

[अथ ग्रन्थकृत्प्रशस्ति]

भीमसि स्वरतरगच्छे, भीमिनमग्राभिषा गणाधीशाः ।
 सिद्धान्तकचिप्रौढा-मूषानाः सन्ति तच्छिष्याः ॥ १ ॥
 भीमदमयसोमास्तु-पाष्यापास्वदिनेयविख्याताः ।
 तच्छिष्यहर्षराज्ञो-पाष्यायेन हि कृता वृत्तिः ॥ २ ॥
 सखिबागुरुमद्रो-दयसाहाय्याथ सङ्गपङ्क्तस्य ।
 भीमजिनपतिवृत्तीश्वर-कृतसद्वृत्तं इदं टीकातः ॥ ३ ॥ त्रिमिः कुलकम् ॥
 यदत्र हर्षराज्ञेन, लिखित मतिमान्यतः ।
 विरुद्ध च सदुत्सृष्टं बुधैः शोष्यं सुबुद्धिमिः ॥ ४ ॥
 ॥ इति सङ्गपङ्क्तकलपुवृत्तिः सम्पूर्णा ॥

[लेखक प्रशस्ति]

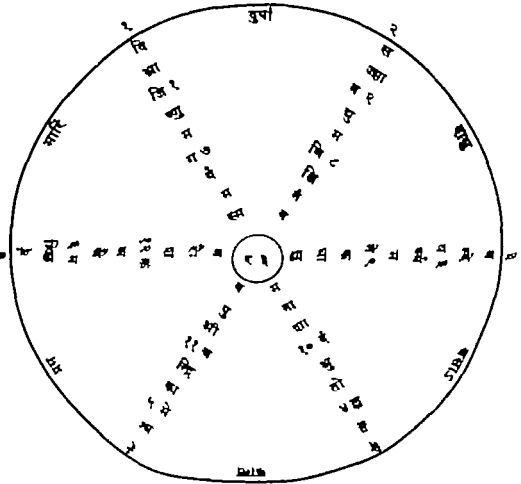
संवत् १९०८ वर्षे माहसुदि ५ दिन शनिवार भीमवरगच्छे भीमिनमाणिक्य
 सूरिभिरयराज्य भीमिकमनगरे गणधर चोपहागोत्रे सा० दयराजस्वस्त्युत्र मा० जग
 सिंहस्वस्त्यु० सा कम्मा मा० घा० कौतिकृद्वाः पु०रत्न मा० रायपाल सुरताण संमार
 चद प्रसूम्परिहारयुनेन मा० रायपानन ज्ञानपञ्चमीतपस उपायने भीमसङ्गपङ्क्तकलपुवृत्ति
 प्रतिविदरावित्रा भीमनराज्ञोपाष्यापानां बाण्यमान विरं तन्दत् ॥ शुभं कर्याणगम् ॥
 भीमनराज्ञोपाष्यापमिभैः प्रमादीकृता प्रतिसिप बा० जयमुन्द्रगणैः ।

शुभं मयतु ऐम्बक पाठकयोः । कम्पाणमस्तु । भीः ।

म चक्रबन्धोऽयम्—

“जिनवल्लभेन गणिनेद् चक्रे”

इति नामबन्धः स्थापना । सं० ५० श्लोक-३८ ॥



श्री सधपट्टक का हिन्दी भाषानुवाद ।



'षड्विज्वाला०'—कृपय-कृषर्म के खण्डन करने में तत्पर, कठणारूपी अमृत क सागर पार्श्वप्रसून अपनी माता तथा अन्य बहुत से लोगों के सामने कमठमुनि (तापस) की घृनी में जलती हुई लकड़ी क छिद्र में घृनी की ज्वाला से ज्वलितप्राय नाग को दिसलाकर कमठमुनि क तप को दुष्टतप उद्धोषित किया और प्रसूने तक्षिमिच अनक उपसर्गों का भी सहन किया । कमठमुनि क तपको दुष्ट तप उद्धोषित करते हुए भगवानन मानो लोगों स कहा कि "प्राणों को उचित है कि-ये कष्ट उठाकर भी लोगों को कुमार्ग पर मान स रोके" दुष्प्रवृत्ति स लोगों को, परामर्षन करन-हटाने में तत्पर ऐसे पार्श्वनायनामक जिनद्व की हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

'कल्याणाभि०'—हे शिष्य ! तुम्हारा मानसिक परिणाम शुभ है, तुम गुणप्रायी हो, कुमार्ग के प्रस्यर्षी-शत्रु हो, जिनयश्रील हो, सरल हो, यथोचित कार्य करन में सर्वदा प्रवृत्त रहत हो, उदार, विवेन्द्रिय, नीतिमान्, स्थिरता एव धीरता से युक्त, सदर्म क समिलापी, विवेक एव सवुमुदि स युक्त हो इसीलिय हम तुमको उपदश दत हैं अर्थात् मह्य व्यवस्था का प्रतिपादन करत हैं ॥ २ ॥

'इह किल०' इति-इस दुष्पमा काल में प्राणिवर्ग कलिकालरूपी महामर्ष के दाह में पट हुए है, प्राणियों में तस्थ क प्रति प्रीति तथा नीतिमत्ता का विलुप्त अभाव हो गया है, अज्ञान एव कृपय की अहर्नित्र वृद्धि क कारण प्राणियों का सुगतिमाग अर्थात् स्वर्गति आदिस सम्बन्ध एकदम विच्छिन्न हो गया है । उस समय इस जगत में भस्मग्रह और उसका मित्र असंयतियों की पूजारूप दशम माधुर्य शब्द उभति पा रह है, मिथ्यास्वरूप अन्धकार दिन शोशुना रात शोशुना बढ़ रहा है । इस मिथ्यात्व क कारण जैनन्त्र माग विरलता अर्थात् धीनता को प्राप्त हा चुका है । ऐसे अन्धकार में रीद्र अस्पृशमापशान्द्र देपी, मृग, दुजन तथा दुषुद्धियों क संघ की परम्परा में अनुसन्ध, विषयमयी, माधुर्यपागी, आभारहीन व्यत्ययामियोंन जिनोक्तमाण ग विच्छ माग को शारों और वैसा रमा ६ ॥ ३ ॥ ४ ॥

'पशौदन्तिक०'—त्रायाकर्मिक भोजन १, जिनान्तन में पाम २, (वनति)

उपाभय के प्रति मत्सरता ३, चन अर्धस्वीकार ४, गृह भाद्रस्वीकार ५, तथा चैत्यस्वन का स्वीकार ६, अप्रस्युपेक्षित आसन गद्दी पर बैठना ७, सावध आचरण में आदर रखना ८, भ्रुवमार्ग का अपमान करना ९, और गुणिजनों के प्रति द्वेष रखना १०, वे दण्ड द्वार रूप जिस मार्ग में धर्म माना गया है। यदि इस प्रकार का धर्म कर्म-मल को हट करनेवाला हो तो मेरुपर्वत भी समुद्र में तैरने लग जाय। अर्थात् जैसे मेरुपर्वत समुद्र नहीं तिर सकता, उसी प्रकार यह धर्म भी कदाचिदपि कर्महारक नहीं हो सकता ॥५॥

(१) औद्देशिक आहार विषयक प्रथम द्वार कहते हैं—

‘पट्काया०’—इति। पृथिवी आदि पट्काय के जीवों को निर्दयतापूर्वक उच मर्दित करके मृत्तियों के निमित्त जो आहार बनाया गया है, जिस आहार का ध्यान में पारिवार निषेध किया गया है, जो आहार निसृष्टता-निर्दयता का सूचक है, जिस आहार को तीर्थद्वारवादिने गोमांसतुल्य कहा है, जिसको खाकर हृदि नरकगामी होता है। भ्रमणसङ्घ आदि के निमित्त बनाये गये ऐसे प्राधाकर्मिक आहार को कौन दयालु मृत्ति ग्रहण करनेकी इच्छा करेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ६ ॥

(२) अब मिनगृहनिवास विषयक दूसरा द्वार कहते हैं—

‘गायक्०’ इति—गन्धर्व(गायक) जहाँ गीत गा रहे हैं, वेण्यामें जहाँ नाच रही हैं, जहाँ पक्षी की ध्वनि सुललित हो रही है, जहाँ मृदङ्ग ध्वनि गूँज रही है, जहाँ पुष्पमालाएँ लहलहा रही हैं, कस्तूरी की सुगन्ध से जहाँ देवमन्त्र सुरमित हो रहा है, जहाँ पर अरीदार खंदोबा चमचम चमक रहा है, तथा सूत्र सुन्दर बस्त्राभूषणों से सुसज्जित भावक-भाविकाओं के समुदाय का जहाँ आने-जाने का ताँता (परम्परा) लगा हुआ है, जो कि मात्र भगवद्गुणगान मक्ति के लिये उपयुक्त है। उन चैत्यों-मन्दिरों में देवद्रव्य का उपभोग, ताम्बूल मद्यप, ध्यान, आसन आदि करने रूप आध्यात्मिकताओं से दूरते हुए जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ हृदि कभी भी निवास नहीं करते हैं ॥७॥

(३) परगृहवास विषयक तीसरा द्वार कहते हैं—

‘साक्षा०’ इति—भगवान् तीर्थद्वारोने तथा गणचरोंने जहाँ स्वयं निवास किया है, और दूसरे साधुओं को भी जहाँ पर निवास करने की आज्ञा दी है, जो भेद मृत्तियों के लिये निस्सृष्टता का प्रधान स्थान परगृह(उपाभय) है, उसका धर्म्यातर (वसतिस्थान द्वारा संस्कारमागर को पार करनेवाला भावक) और जनगार(जगार-पर

(रहित) इन दोनों का अर्थ आननबाला कौन एसा विद्वान होगा जो द्वेष करेगा ? अर्थात् विद्वान् पुरुष कमी मी उसका द्वेष नहीं करेगा ॥ ८ ॥ फिर भी करते हैं—

‘अश्रोत्सर्गा०’ इति—इस अग्नि प्रवचन में जो निष्ठीयसूत्र नाम का छेदसूत्र है वह तो मानो मोक्षनगरी का एक द्वार ही है। वह निष्ठीयसूत्र अनेक प्रकार के उत्सर्ग और अपवादनय के प्रतिपादन से युक्त है। उस निष्ठीयसूत्र में गृहस्थों के घर में उतरने क बहुत से भेद कहे गये हैं। उसमें पहले उत्सर्गरूप स कहा गया है फिर अपवाद से स्त्री, पशु, पशुक आदि के संसर्ग से युक्त वमति में साधु को नहीं उतरना चाहिये, इस प्रकार से कहकर उसका अपवाद भी किया है कि—साधुलोग ऐसी बसती में मी यतना से रह सकते हैं। इसका निष्कर्ष यही हुआ कि निष्ठीयसूत्र में स्त्री पशुपशुक आदि से युक्त अपवा उससे रहित, इन दोनों प्रकार क गृहस्थ क घरों में साधुओं का उतरना नियमतः प्रतिपादित है। परंतु अग्निमन्दिर् में उतरने क लिये कहीं मी नहीं कहा गया है ॥१५॥

(४-५-६) अथ गृहस्थ और चैत्य, इनका स्वीकार विषयक चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ इन तीन द्वारों को कहते हैं—

‘प्रव्रज्या०’ इति—तीर्थहूरोन घन स्वीकार करनेको प्रव्रज्याका विरोधी कहा है। फिर ‘य मेरे भावक हैं’ इस प्रकार स सर्वात्ममी भावकों पर ममत्व रखना तो अत्यन्त साधव है। फिर यदि ‘यह अग्निालय मेरा है’ इस प्रकार अग्निालय क प्रति साधु, ममता रखे तो फिर उसमें अत्यन्त निन्दनीय मठपतिस्व—मठभारीपना—आ जाता है। इस लिये मुक्ति के अभिलाषी साधुओं को चाहिये कि ये अर्थ भावक और अग्निालय, इन सबों पर प्रव्रज्या को दूषित करनेवाली ममता कमी मी न करें ॥ १० ॥

(७) अप्रमादित् मासन विषयक सातमा द्वार कहते हैं—

‘अव्यति०’ इति—गरी पर बैठन स असपम अवश्यम्भावी है, क्योंकि उसकी प्रविलेखना नहीं हो सकती। तथा गरी पर बैठन स विभूषा—श्रामा होती है और साधुओं के लिये विभूषा का श्राद्ध में निवेश किया गया है। गरी पर बैठना यह एक राक्षसिद्ध है अतः साधुओं क लिय ग्यान्व्य है। गरी पर बैठन से लोग साधुओं का उपहास करते हैं कि—‘अरे ! त्वां येम यह सुण्डित हाकर मी गरी पर बैठना है।’ इस प्रकार लोगो में निन्दा मी जाती है। और इसमें परिग्रह दोष गो स्पष्ट ही है। गरी पर बैठनस साधु की सुखभागरूप तीव्र अभिलाषा मी प्रकट होती

है। इस लिये साधुओं को गद्दी पर कमी भी नहीं बैठना चाहिये। इसी प्रकार मन्त्रक सिंहासन-तर्कभेदार आसन-आदि पर भी नहीं बैठना चाहिये ॥ ११ ॥

(८) सावधानरित विषयक आठमा द्वार कहते हैं—

गृही० गङ्गरिया प्रवाह में पड़े हुए इन चैत्यवासियों इन आगे कही जानवाली अयुक्त बातें कैसी फैला रखी हैं ? वे इस प्रकार कहते हैं—भावक अरन अपन नियत किये हुए गच्छ के ही साधुओं को मानें। बिनालय में साधुओं का अधिकार हो। गृहस्थ लोग साधुओं को अन्न पान खादिम स्वादिमरूप चतुर्विध आहार श्रद्धि अश्रद्धि का विचार किये बिना ही दें तो कोई दोष नहीं है। तथा भावक लोग सुविहित साधुओं क समीप शीलदि व्रत न लें, इत्यादि ॥ १२ ॥

(९) भुतपथ भवशा विषयक नौवाँ द्वार कहते हैं—

‘निर्वाहा०’ इति—ऐसा गुरु कि—असि क शील और वंश का कुछ भी पता नहीं है, जो गुण स हीन हैं, अिसने सिर्फ अपना पेट भरन क लिये ही प्रव्रज्या ली है, यह गुरु उदरममरी—पेट, गुणहीन, अज्ञातशील वधवाले लोगों को स्वार्थ क कारण मूढते हैं, उन सुष्ठितों की प्रसिद्ध गुण वधवाल भावक भी गच्छरूपी महाप्रह से गृहीत होकर देवता से भी बहकर उनकी (चैत्यवासियो की) पूजा करते हैं, यह एक मोहनीय कर्मोदय का प्रमाण है ॥ १३ ॥ फिर भी—

‘बुध्वापा०’ इति—गुरुकर्मी (मारेकर्मी) लोगों को प्रथम तो सद्धर्मबुद्धि जाना ही कठिन है। यदि कथञ्चित् सद्धर्मबुद्धि हुई भी तो लुप्त गुरु का मिलना दुर्लभ है। यदि पूर्वपुण्य क प्रमाण से एस गुरु भी मिल गये तो भी य भावकलोग गच्छ-स्थिति क वशीभूत हो अपनी आत्मा का हित नहीं कर सकने। अर ! जब ऐसी स्थिति है तब हम अपनी मानसिक बदना किस क आगे प्रगट करें ? किस की धरण में जायें ? किस की आराधना करें ? मरे ! कुछ भी नहीं द्रसता कि क्या करें ? क्या न करें ? ॥ १४ ॥ फिर भी—

‘सुदक्षामा’ इति—भूम क मारे तिमका जी सा रहा था ऐमा कोई दरिद्र क बालकन बैराग्य क न रहन हुए भी किसी जिनारूप में प्रव्रज्या लली। फिर कालक्रम से उमन किसी पुरुष को अरन पथ में छन-प्रव्रज क डाग कर लिया। फिर यह आचार्य बन बैठा। यह प्रस्यन्त आभर्य है कि—एस माधु का आचार्यपदी मिल

गई। जब आचार्यपद प्राप्त कर लिया तब वह गुणहीन साधु विनालय को अपना घर समझता है। अपने को इन्द्र मानता है। विद्वानों को मूर्ख मानता है और संसार को तुच्छ समझता है। वैश्यावासियों की यह बात सर्वविदित है ॥ १५ ॥ फिर भी—

‘धैर्जातो’ इति—अधमों में भी अधम, मुनियेषधारी ठग, इन भावकों को नाथे हुए बैठ के समान इधर-उधर जहाँ चाहे वहाँ नचाते हैं। ये भावक न उनके पुत्र हैं, न उनके पालित हैं, न स्वरीये हुए हैं, न उनके श्लेषी हैं, न पहले कमी में हुए हैं, न ये उनके मित्र हैं, न इन ठगों ने पहले कमी रुपये-पैसों से उन को सन्तुष्ट किया है। अरे! तो भी देखो यह क्या विचित्रचिन्तु है जो य भावक लोग इन ठगों के अधीन हो गये। अहो! इस अवापतन का प्रतीकार कैसे हो? इस अनर्थ का प्रतीकार नहीं हो रहा है। इससे यही छात होता है कि इस समय संसार में कोई शासक नहीं रहा, कि जिसके आगे आकर पुकार की जाय ॥ १६ ॥ फिर भी—

‘किं०’ इति—अरे! क्या इन मूर्ख लोगों को दिग्भ्रम (बेसमझी) हो गया है? क्या वे अचे और अहरे हो गये हैं? क्या इन लोगों को योग (मन्त्रादि प्रयोग) और धृष (धिरपर डालने की सुरकी) द्वारा बन्ध में कर लिया है? क्या इनका माग्य स्वराज हो गया है? अथवा पूर्वोक्त इन्हें ठगलिया है क्या? या ये लोग प्रह गृहीत (पागल) तो नहीं हो गये हैं? जो कि प्रचुर दोषों को देखते हुए भी वे मूर्ख लोग विनागम के धिरपर पैर रखकर कुमार्ग पर पड़े हुए हैं, उस परसे इटने का नाम ही नहीं लेते। अरे! इसना ही नहीं जो लोग कृपण को हर करने का प्रयत्न करते हैं तो उनसे वे मूर्ख साग देख भी करते हैं, अहो! यह कैसा भयङ्कर पतन है? ॥ १७ ॥ फिर भी—

‘इष्टायासि०’—अविधिपूर्वक अर्थात् रात्रि में मूर्ख लोगों द्वारा विहित तीर्थस्नान, पापरूपी पद में अवश्यमेव जुबाता है। क्योंकि अब रात्रि में तीर्थस्नान किया जाता है उस समय इच्छु हुए अनसुखाय अर्थात् स्त्री पुरुषों के सुन्द में बहुतरा एसी स्त्रियाँ आती हैं जो विटों की अर्थात् देव्यापतियों की, नटों की अर्थात् नाटक करनेवालों की, मटों की अर्थात् सुस्तम्भ गुणों की अर्थात् दासों की प्रिय उपनायिकायें होती हैं, इन लिये वे विट नट आदि भी रात्रि में तीर्थस्नान में एकत्रित होते हैं। वे सभी नर-नारियाँ हृदय में संगम की अभिलाषा लिये हुए रहती हैं। तथा वे लोग-राग, द्वेष, मारण-द्वेषर क गुणों के प्रति अमहिष्णुता, तथा ईर्ष्या अर्थात् अपनी

प्रियतमा को दूसरे पुरुष से बाँटें करत देखकर क्रोध करना, इन सबों से मरे हुए रहते हैं। रात्रि में किये गये तीर्थहस्तस्नान में तो ऐसे स्त्री-पुरुष एकत्रित होते हैं जिससे बिनालय में असमञ्जस प्रवृत्ति होती है इस लिये रात्रि में तीर्थहस्त स्नान सर्वथा वर्जनीय है ॥ १८ ॥ फिर भी—

‘जिनमत्त०’ इति—त्रिनोक्त मत से विरुद्ध प्रकार से किया गया अर्थात् अविधिपूर्वक किया गया स्नान ही केवल अहित क लिये होता है, इतनाही मत समझो किन्तु त्रिनमत विरुद्ध विधि से किये गये तप-अनशन आदि, चारित्र-देशविरति और सर्वविरति, दान-अभयदान आदि, तथा विनय वैयाकरण आदि भी सुक्तिरूप फल क दायक नहीं होते हैं। क्यों कि त्रिनाशा भी यदि अविधिपूर्वक की जाती है तो वह अष्टम फल देनेवाली होती है, और यदि विधिपूर्वक की जाती है तो शुभ फल देनेवाली होती है। फिर इन चैत्यवासियोंने जो अविधि किया का डोंम फैला रखा है उससे क्या अनन्तसंसार की प्राप्ति नहीं होगी ? होगी ही ॥ १९ ॥ फिर भी—

‘जिनगृह०’ इति—विधिपूर्वक-अर्थात् शास्त्रोक्त प्रकारसे किये गये त्रिन मयन, त्रिनचिम्ब-भगवान की प्रतिमा, त्रिनचूजन, त्रिनयात्रा अर्थात् अष्टाद्विधादि महोत्सव, त्रिनप्रतिष्ठा, तथा दान-अभयदानादि, तप-अनशन आदि बारह प्रकार का तप, व्रत आदि अर्थात् स्पूल प्राणातिपातविरमण और अभिव्रत आदि, गुरुमक्ति-धर्माचार्य की मक्ति और धृतपठन अर्थात् सिद्धान्त का स्वाध्याय तथा सिद्धान्त के अर्थों का भ्रमण आदि, ये सब आदरपूर्वक किए जान पर भी यदि इन में कुमठ, कुगुरु, कदाग्रह-कृतिगत आग्रह, कुबोध और कुदेशना का अंश मात्र भी मिल जाय तो ये त्रिनमयन आदि सब अनन्त संसार क कारण हो जाते हैं। जैसे उत्तम से उत्तम मोहन क्यों न हो ? यदि उनमें यादवादा भी विष मिल गया हो तो वह अनिष्टकारी हो ही जाता है ॥ २० ॥

‘आक्रन्दु’ इति—जैसे मन्थीमार बडिश-पत्ती (मण्ठी पकड़ने का कांटा) में मांस क टुकड़े को लगाकर मल्लियों का आकृष्ट करते हैं उसी प्रकार य पूर्व चैत्य वासी लोग भगवान की प्रतिमा दिखलाकर भद्रालु भावक लोगों को आकृष्ट करते हैं। भगवान् क नाम पर अपनी इष्ट सिद्धि क लिये य सुन्दर ९ अन्तर्गृह और मठ, उन भावकों से बनवाते हैं। सत्य तो कबल उनका भयन स्वार्थ पर है, परन्तु भगवान के नाम पर भावकों को ठगकर उनसे य सब पनवाने हैं। तथा-यात्रा स्नान अर्थात्

पूर्वजों के उद्देश्य से विनाशय में यात्रा और जिनस्नात्र आदिक उपायों से और तमसितक-अर्थात् अद्भुत उपद्रव की निवृत्ति के लिये जिनमगवान के उद्देश्य से 'इतना इन्द्र देता हूँ' इस प्रकार के नियम कराने के, रात्रिघ्रागरण और दान्तिक पौष्टिक आदि कर्म के छल (बाहना) से नाम मात्र के जैन इन पूर्ण चैत्यवासी लोगों के द्वारा वे अद्भुत मोलेमाले आश्चर्य भूतलगे के समान ठगे जा रहे हैं, यह अत्यन्त खेद की बात है। इस विषयमें समझने की बात इतनी है कि—ये सभी इन लोगों के द्वारा अविधिपूर्वक कराये जाते हैं इस लिये इन सब का प्रतिषेध किया गया है, विधिपूर्वक तो इन की कर्षण्यता इष्ट ही है। इन की कर्षण्यता का स्थापन पूर्वोक्त सातवें और बीसवें काव्य में किया गया है ॥ २१ ॥

'सर्वथा०'—इति—जिनके आसन्न अर्थात् पापागमन के द्वार खुले हुए हैं, जिनकी भोगादि पापों इन्द्रियों अपने विषयों में आसक्त हैं, गौरव अर्थात् शक्ति रस छाटा, इन तीन गौरव से चण्ड-रौद्र मनोदण्डरूपी सूफानी घोडा जिनका उछल रहा है, कषायरूपी सर्प जिनके बड़ रह हैं, जो सभी प्रकार के अकृत्य कर्म करने में सर्वदा उत्तर रहते हैं, जो सभी प्रकार के अकृत्य कर्म करने में सर्वदा उत्तर रहते हैं—जो अन्त्य-अन्तिम अर्थात् दक्षिण आश्रय-असंपत्तियों की पूजारूप जो कि सब-दशों आश्रयों का राजा है उसके आश्रित होकर उद्वत बुद्धिवाले ये हीनाचारी लोग भेड़-सदाचारी सुनियों के मस्तर पर खड़े हो कर खुद हो रहे हैं, एव ममात्र में प्रतिष्ठा भी पा रहे हैं, अहहह!!! यह कैसा अनर्थ हो रहा है ! ॥ २२ ॥

'सर्कारम्भ०'—सभी प्रकार के सावध व्यापार-बनवान्यादि संग्रहमें—उत्तर एहस्य लोग भी यदि पूर्व आदि दिनों में एकाक्षन विगयरहित भोजन आदि का प्रत्याख्यान-नियम लकर उनका पालन में कषणित् भूल कर बैठते हैं तो भी अत्यन्त अनुताप-पछतावा-करते हैं कि—'मूस कर्ममागी का प्रत्याख्यान मद्य हो गया' परन्तु ये हीनाचारी लोग छ बार—तीन बार मग्घ्या के प्रतिक्रमण में और तीन बार प्रातःकाल के प्रतिक्रमण में, इस प्रकार छ बार—'त्रिविध-मन वचन काया के तीन योगों से, त्रिधा-करण १, कारण २, अनुमोदन ३, इन तीन कारणों से प्रत्याख्यान करता हूँ' इस प्रकार प्रतिदिन दोनो समय मूह स मोलकर भी स्वपदम उग्रका लम्बन करते हैं। ऐसे हीनाचारी लोग क्या कमी तपस्वी, धानी या प्रती हो सकते हैं ? कमी भी नहीं। इनमें तप ज्ञान और प्रव का होना तो अशक्यतः वैशा ही ममज्ञाना चाहिये ॥ २३ ॥

‘वेषार्थ०’ इति—देवोद्देश्यक धन-देवद्रूप-से अपनी लक्षि के मनुष्य, एव समी ऋतुओं में सुखप्रद एस मठ बनवाकर उस मठ में सर्वदा रहनेवाले वे हीनाचारी लोग खूब स्वच्छ कोमल रुई स मरे हुए सुन्दर बिछौने पर सोते हैं। इसी प्रकार क गरी आदि भ्रामनों एवं मछरियों-तकियेदार आसनों पर बैठते हैं। वे सर्वदा आरम्भ, परिग्रह और श्रोत्रादि पाँचों इन्द्रियों क विषयों से युक्त, तथा ईर्ष्या और द्रव्यादि की आकाङ्क्षा से सर्वदा आन्दोलित हुशयवाले होकर रहा करते हैं। ऐसे श्रेष्ठ ब्रह्मचारी, साधु के शेष में छिपे हुए लम्पट ये हीनाचारी लोग महाशत्रुओं को भी लाल्छित कर दिये हैं। इनक द्वारा साधुमार्ग कलङ्कित हो चुका है ॥ २४ ॥

‘इत्या०’ इति—परतीर्थिक लोग इन हीनाचारियों की सामाचारी को देखकर ‘ये लोग साधुवेषमें छिपे हुए लम्पट हैं’ इन प्रकार समी जैनद्विषियों के विषय में ये उपहास करते हैं। और इन हीनाचारियों की लीला सुनकर भुवमार्ग के अभिमुख हुए लोग भी इस स विमुख हो जाते हैं। इन हीनाचारियों की मिथ्याप्रवृत्तियों के कारण सम्पत्ति लोग भी सन्देहयुक्त होन लगते हैं। इस लिये यह निश्चित हुआ कि—ये हीनाचारी चैत्यवासी लोग भिनप्ररूपित सिद्धान्त से सर्वथा विकृत आचरण करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

‘सर्वे०’ इति—चैत्यवासियों द्वारा विहित कुमार्ग को सेवन करनेवाले, इसी कुमार्ग को भिनमार्ग कहनेवाले, तथा अपनी दुरारमता से भिनमार्ग का उच्छेदन करनेवाले लोगों के मन को, संसार क समस्त सद्योपाती अत्युत्कृष्ट कालकृत विषों के समूहन, संसार के समस्त पापोंन, समी शिवैले सपोंन और समस्त कष्ट, आधि-मान सिकम्पथा, व्याधि-रोग तथा हुए ग्रहोने निषय ही भूर बना वाला है ॥ २६ ॥ इस कारण स-यहाँ कारण कहते हैं—

‘बुर्मेद०’ इति—इन हीनाचारी चैत्यवासियों के बुद्धिरूपी नेत्र जो कमी भी नहीं हूँ होमकते ऐसे कदाग्ररूपी अत्यन्त गात्र अचकार-पुञ्ज से आच्छादित हैं। ये चैत्यवासी लोग सिद्धान्त क घट्ट हैं। निरन्तर महाभोगनीय कर्म के उपासन करते रहने के कारण ये महाभ्रमिमानी हैं। ये स्वयं तो नष्ट हो ही पूरू हैं और दूसरों को भी विनाश करनेमें मयदा उद्यत हैं। ऐसे जो ये मिथ्याचारवाले चैत्यवासी लोग हैं इन क बचन पर कोई विद्वान् मनुष्य कैसे ब्यान दगा? अथात् इन क बचनों को कैसे मानेगा? विद्वान् मनुष्य एस लोगों क बचन को सुन ही नहीं सकत इस लिये हे शिष्य! तुम भी इन क बचनों को कमी नहीं सुनना ॥ २७ ॥ क्यों कि—

‘यत्किञ्चि०’ इति—ओ एकदम असत्य है, जैसे कि भेगिक राजा का उओहरण को बन्दन करना आदि, तथा ओ असत्य अनुचित है, जैसे पिता आदि के उओह्य स यात्रा आदि करना, अथवा जिनालयमें लड्डुटक्रीडा (रासलीला) करना आदि, और ओ लौकिक तथा लोकोचर दोनों से बाध है, जैसे—घृतकवाले घर स भिषा लेना, रत्नस्वलाका जिनेन्द्रपूजन, हीनजातियों को परमेष्ठि मन्त्र पढ़ाना, उन को दीक्षा देना और उनस जिनन्द्र की प्रतिमा कराना, तथा ओ मध्य प्राणियों के लिये संसार का कारण है, जैसे—जिनमन्दिरमें बलक्रीडा आदि, एव ओ छाछाहासे विकृत है, जैसे आधाकर्मिक मोक्षन आदि, अथवा अधिक भावण हो जाय तो अस्ती बें दिन पर्युषणपर्व करना आदि, इन सबोंको य मूर्ख कुपुदि चैत्यवासी लोग धर्म कहते हैं और ये मूर्ख लोग इनको सीपमें बाँदी के समान क्रमसे जिनमतानुसार समझकर स्वय इनका स्वीकार भी करते हैं। अर ! देखो यह दुरन्त-परिणाममें अहितकर इस असंयतपूजारूप दक्षम आभार्य की कैसी करतूत है ? ॥ २८ ॥

‘कष्ट’ इति—यह असत्य खेद की बात है कि—अन्मसे ही अन्धा और वैदेशिक (वहाँ का नहीं रहनेवाला) होनस मार्ग को अच्छी तरह नहीं जाननेवाला मनुष्य अपनी गर्दन ठठाकर दिक्षा भूल हुए आँधों को महामयझूर अरण्यमें उनके मन्तव्य नगर का मार्ग दिखला रहा है (१)। इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि—जिनकी आँखें अच्छी हैं, ओ सुन्दर एव विभ रहित मार्ग को जानते हैं उनको भी वह वैदेशिक अमात्र मनुष्य मार्ग दिखलान का साहस करता है (२)। तीसरी खेद की बात सपस अधिक यह है कि—अब वे मार्गज्ञ नेत्रवान् मनुष्य उस वैदेशिक अन्मात्र की बात नहीं मानते हैं तो वह उनकी इस प्रकार हँसी करता है जैसे किसी मूर्ख की हँसी की जाती है ॥ २९ ॥

‘सैषा’ इति—जिनमें समय-समय अर्थात् प्रतिसमय मध्य मार्गों का ज्ञास हो रहा है एसा दुष्ट संस्थानवाला अष्टवर्षिणी काल इस समय विद्यमान है (१)। दो हजार वर्ष तक एक रात्रि पर त्रिकनवाला मम्मराशि नामक तीसरा क्रूर प्रद का अधिकार है (२)। और तीसरा असंयति पूजारूप यह प्रत्यक्ष दृष्टकों आभार्य स्वय वेगस अपना प्रभाव प्रमा रहा है (३)। य तीन और चौथा दुष्पमाकाल (४)। ये चारों जिनसिद्धान्त को धत-विधत करन के लिय पर्याप्त पण्डपरिफर है। य चारों दृष्ट इस समय प्रतिपल-निरन्तर स्व परिपुष्ट हो रह है, ऐसे समय में मर्षोत्कृष्ट बिशुद ज्ञेन मार्ग असत्य इलम हो गया है। अब एक शत्रु के रहन पर भी सायुद्धि नहीं

होती है तो परिपुष्ट बरामरी के चार छत्रुओं की विद्यमानता में जैनमार्ग की वृद्धि कैसे होसकती है ? ॥ ३० ॥

(१०) अब गुणित्रेपधी नामका दशवां द्वार कहत हैं—

‘सम्यग्०’ इति—जो सम्यग्मार्ग अर्थात् विद्युद मार्ग के पोषक हैं, स्वरूप ही जिनका प्रथम भाग को प्रकट करता है, जिनके नशों में पदकाय बीबों क प्रति कल्या का भाव उमड रहा है, जो विद्युद चारित्र क आराधक हैं, जिन्होंने बहद्वार को मार भगाया है, छले हुए पासों के डेर को जितनी सरलतासे जलाकर राख कर दी जाती है उसी प्रकार जिन्होंने फामको जलाकर राख कर डाला है, जो सर्वदा सिद्धान्तरूपी राधमार्ग पर चलते हैं, उन्मार्ग पर कमी नहीं, तथा जो उपश्रम भावसे युक्त हैं, एव विवेकी सज्जन लोग जिनका सर्वदा आदर-सम्मान किया करते हैं ऐसे विद्वान् सत्साधुओं से भी दोषों के मण्डार तीक्ष्ण स्वभाववाले (अस्पन्त कोषी) महाघठ ये चैत्यवासी लोग ड्रेप किया करते है ॥ ३१ ॥

अब उनके मिष्यात्व का वर्णन करते हैं—

‘वेधीय०’ इति—मिष्यात्वरूप ग्रहसे ग्रहित (उमच) मनुष्य इस कालमें दोषों के मण्डार को देव मानते हैं, जिन्होंने बडे ९ दोषों को नष्ट कर डाला है अर्थात् पीतराग देव हैं उनको देवरूपमें स्वीकार नहीं करते हैं । महामूर्खताओं को सबद्ध मानत है और तत्त्वज्ञों को असर्वज्ञ मानते हैं । जैनमार्ग को उमार्ग कहते हैं और कुमार्ग को सन्मार्ग कहते हैं । तथा दुर्गुणों के शिरोमणि होते हुए भी अपने को गुणवान् कहते हैं यह सब कितने आश्चर्य की बात है ॥ ३२ ॥

‘सङ्घ०’ इति—इन हीन आचारवाले चैत्यवासियों को देने के लिए बनवाये गये चैत्यरूप फूट अर्थात् आसमें जो फसे हुए हैं, इती हेतु जो अन्तःकरण से छटपटा रहे हैं, परन्तु इन चैत्यवासियों की मुद्रा अर्थात् ‘ हमारे चैत्य को छोड़कर अन्यत्र मत जाओ ’ ऐसी राजाडा (इकूमत) रूप बड़ बचन से बचे हुए होन के कारण जो बरा भी हिल-डुल नहीं सकते हैं । मुक्ति क लिये जो दान शील तप आदि करते हैं, परन्तु इन हीनाचारियों के सङ्घ की परम्परामें पड़े हुए हैं । ऐस जो ये द्वयनीय मध्य प्राणीरूप हरिणों क सङ्घ है, उनका हीनाचारियों के सङ्घरूपी ब्याघ्र से छुटकारा कहा ! अर्थात् जैसे हरिणसमूह अब ब्याघ्रक्रम-ब्याघ्रपरम्परामें आजाता है । तब उसका छुटकारा अमम्वर हो जाता है । उसी प्रकार इन हीनाचारियों के सङ्घरूप

व्यापक क्रम (फन्दे) में पड़े हुए मध्यप्राणीरूप हरिणोंका छुटकारा कहाँ ? अर्थात् उनका मुक्तिमन के से हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

‘इत्थ’ इति—इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो मैंने मिथ्या पथ के विषयमें बिलकुल सत्य बात कही है, इसे कोई एसा न समझे कि—‘इन्होंने परदोषोद्धारनरूप अनुचित कार्य किया है।’ अथवा—‘इन रागद्वेषात्मक वाक्य से क्या लाभ ?’ इस प्रकार मेरे ऊपर कोई सज्जन क्रोध भी न करे ! क्योंकि मैं—इन हीनाचारी चैत्यवासियों द्वारा प्रकल्पित जैनमार्ग क भ्रमसे कुमार्गमें पड़े हुए लोगोंको दखकर उनकी भ्रान्ति को दूर करने के लिये है अर्थात् इन ‘विचारों का क्या होगा ?’ इस उद्देश्यसे ही कठम भाषसे आक्रान्त हो यह सब कहा है, और इसकी ग्रन्थरूपमें रचना भी की है। इसमें राग, द्वेष अथवा वैयर्थ्य कारण नहीं है ॥ ३४ ॥

इसमें कारण कहते हैं—

‘मोक्षते०’ इति—जो कोई सज्जन करुणा क वश हो लोगोंमें कहते हुए कृपा क हूर हटाने की इच्छा से हीनाचारी इन चैत्यवासियों द्वारा प्रकल्पित हुए मार्ग क—जो यह मार्ग अनन्त काल से उद्भूत हुआ है अर्थात् जो पहले अनन्त कालमें कभी नहीं था, तथा यह पाप का स्थान है, नाममात्र के बेपस जो जिनमार्गकी भ्रान्ति को उत्पन्न करता है, वस्तुतः यह जिनमार्ग का घातक है, एसा जो यह हुए मार्ग है उसके-दोषों की संख्याको कोई कटना कह सो मानो वह समुद्र क अलको मापना चा हवा है, अथवा पग से समस्त आकाश को लेंपना चाहता है, अर्थात् जैसे समुद्र के अल का मापना, पग से आकाशको लेंपना कठिन है इसी प्रकार इस मार्ग क दोषों का कटना भी कठिन है अर्थात् इस मार्गमें इतन असंख्य दोष हैं कि जिनकी इपचा (इतन दोष हैं ए सी संख्या) हो नहीं सकती ॥ ३५ ॥

अथ सरसायुजों का वर्णन करते हैं—

‘न साध्या०’ इति—जो साधय आम्नायपाल नहीं हैं, अर्थात् आचारकर्मिक साहारादि का ग्रहण करना जिनका परम्परामें नहीं है, अर्थात् जो चैत्यवासी नहीं हैं, तथा जो बहुर और कुशीलों की क्रियास रहित हैं अर्थात् बहुर और कुशीलों की क्रिया का आचरण नहीं करनेवाले हैं। मद् ममता और आत्मीयिक क मयस जो रहित हैं। संकष्ट अर्थात् रीद्र मध्यवर्गाय भि-हैं नहीं होता है, जो कदाप्रही अर्थात् हठी नहीं है। कपटी अर्थात् मायाकी भी नहीं है। तथा जो घृत्रो-विद्वान्तों में रुचि

रखनेवाले हैं उसे मुनि लोग तो प्राज्ञ भी इस अगतमें सत्साधु कहलायेंगे ही अर्थात् उसे मुनि को विवेकी अन सत्साधु कहेंगे ही ॥ प्रमत्त से यहाँ बहुरूप आदिकी व्याख्या की जाती है—

पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ हाते हैं—बहुरूप १, कुशील २, पुलाक ३, निर्ग्रन्थ ४, और स्नातक ५ । इनमें बहुरूप दो प्रकार के होते हैं (१) उपकरणबहुरूप और (२) देहबहुरूप । उपकरणबहुरूप वे कहलाते हैं जो वर्षों में बिना आवश्यकता के भी कमी कमी बख्खादिको चोते हैं, स्रष्टृत्वचिक्रा लेखनी वस्तुओं को ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं एवं कमी पहिनत भी हैं, पात्र दण्डा आदि को भी तैल माकलन आदिसे चमकदार बनाते हैं, अधिक उपकरणों की भी याचना करते हैं (१) । देह बहुरूप वे होते हैं जो बिना कारण ही हाथ पैर नख आदि को विभूषित-सुखोषित करते रहते हैं (२), दोनों प्रकारके ये बहुरूप शिष्यादि परिवार आदि विभूषितों तथा तप और पाश्चिहस्य आदिसे उत्पन्न हुए पक्षको चाहते हैं और आनन्द मनाते हैं, तथा छेदयोग्य बहुत अतिचारों से छबलित कर्तुरित अर्थात् मलिन होते हुए भी कर्म धयके छिए उद्यत रहत हैं, इत्यादि लक्षणवाले होते हैं ॥ १ ॥

कुशील भी दो प्रकार के हाते हैं—आसेबनाकुशील और कषायकुशील । जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का किञ्चिन्मात्र आराधन करते हैं वे आसेबनाकुशील हैं । और जो क्रोधादिक मावों क वष होकर ज्ञानादि गुणों की विराधना करते हैं और मूखोत्तर गुणों क विपायक होते हैं वे कषायकुशील हैं ॥ २ ॥ इन पाँचों का विस्तृत स्वरूप भीमगवतीसूत्र आदि से जान लें ।

यहाँ धरुहा होती है कि अब ये छिपिल क्रियावाले हैं, केशों का सोधन करके केशों से केश काटते हैं, सुन्दर-सुन्दर उपकरण रखते हैं और मूल गुण उत्तर गुण के विराधक हैं तो फिर ये 'निर्ग्रन्थ' शब्दसे कैसे कहे जाते हैं ? इनका स्वरूप किस प्रकारसे है ? इसका समाधान यह है कि—इनकी पूर्वीक क्रियाएँ प्रवाह रूपसे (हमेशा-सर्वदा) नहीं हैं—कमी कमी विशेष कारण को लेकर घावनादि क्रिया करते हैं, और मूखोत्तर गुणों की विराधना मानसिक विराधनाको लेकर हैं अर्थात् मनसे कमी विराधना कर बैठते हैं, यह यहाँ सारांश है, किन्तु इनके सदा इन क्रियाओं की कर्तव्यता नहीं है, इस लिये इनको 'निर्ग्रन्थ' शब्दसे कहा है ॥ ३६ ॥

अब सत्साधुओं का वर्णन करते हैं—

‘सविग्ना०’ इति—जो मोक्ष क अभिलाषी है, सर्वदा लोगों को धर्मोपदेश देते रहते हैं, आश्रम क रहस्य को जानते हैं, द्रव्य क्षेत्र काल और भाष को देखकर क्रिया करते हैं, शुद्ध मार्ग-अर्थात् विनमार्ग को प्रकट करने में सर्वदा सावधान रहते हैं, तथा जिन्होंने मिथ्याप्रवादों को दूर करदिये हैं, एवं जो नियम-अभिग्रह, उपश्रम, दम-इन्द्रियविषय, औचित्य-योग्यता, गाम्भीर्य, धैर्य, स्वर्य, औदार्य, आर्यवर्षा-सत्युद्घोषित प्रवृत्ति, विनय-अभ्युत्थानादि, न्याय, दया, धर्मक्रिया, इन में आलस्या भाव-उद्यतपना और सरलता आदि गुणों से परित्र हैं, ऐसे जो विनशासन क सत्साधु हैं वे तो सर्वदा बन्वनीय हैं ॥ ३७ ॥

अथ प्रथकार जिन भगवान को बन्दन करते हुए चक्रस्थापनासे स्वनामगमित काव्य करते हैं—

‘विघ्नाजिष्णु०’ इति—अपन अतिशयो से क्षोमायमान, अहङ्कार एवं कामसे सर्वदा रहित, विद्वान्त की आशा के उच्छ्वान का निषेध करनेवाले, कबलज्ञानद्वारा सोकासोक के प्रकाशक होने से धर्यसमान, श्रेष्ठ शरीर की कान्तिरूप चन्द्रिका के द्वारा चन्द्रमा के समान शीतल कान्तिवाले, असुर नर और इन्द्र से प्रशंसित, पापको नष्ट करनेवाले, दम्भ-(कपट-माया) के लिये शत्रुसभान, विद्वानों को अपनी सुन्दर वाणीद्वारा स्यादाद के आनन्दसे आनन्दित करनेवाले, ऐसे जो जिन भगवान हैं उनको मैं बन्दन करता हूँ, यह काव्य ‘चक्रबन्ध’ काव्य है। प्रथकारने इसमें “जिनबल्लभेन गणितेव चके” (जिनबल्लभगणिते इस को बनाया है) इस वाक्य को अपनी कम्प्यरचना चातुरी के प्रमाणसे काव्यान्तर्गमित कर दिया है ॥ ३८ ॥

‘जिमपति०’—इति-विषयलोलुप, साधुबेषधारी और मस्मग्रहरूप, म्लेच्छ राव क सैन्यसमान जो ये चैत्यवासी लोग हैं, इन चैत्यवासियों से इस पञ्चम काल (आरा) के कारण जिनेन्द्र का मतरूप दुर्ग(किष्का) आक्रान्त हो गया है अर्थात् मस्मक ग्रह के सैन्यरूप इन चैत्यवासियों जिनेन्द्र मतरूप दुर्ग पर आक्रमण कर लिया है, इसी लिये इस समय ये लोग अपने बधुपती भावकों क लिये हमको छोड़कर “अन्यत्र कहीं नहीं जाना” इस प्रकारकी शृङ्खला समान अपने मच्छ की मर्यादा को स्वार्थ सिद्धि अर्थात् अपना पेट भरनेके लिये विस्तारित किये हुए हैं ॥ ३९ ॥

‘सम्प्रत्य०’—इति-इस समय-इस पञ्चम आरा में हीनाधारी चैत्यवासियों के उद्वह का शरीर अप्रतिम अर्थात् अनुपम बलघ्नाली हो रहा है, मस्मग्रहरूप म्लेच्छ

राज के सैन्य दिनानुदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। दुष्ट असंतयियों की पूजारूप दक्षम आभर्ष प्रतिदिन अधिक से अधिक रूप में बलिष्ठ हो रहा है, मोहनीय-कर्मरूपी राजा के से पूर्वोक्त सैन्य चारों ओर फैलकर अपना अधिकार जमा बैठे हैं। ऐसे समयमें यदि हमारे मुहसे 'सदागम-शुद्धमार्ग' वह शब्द भी निकल जाता है तो मोहनीय कर्मरूपी राजा की आज्ञा में सदा तत्पर रहनेवाले आजकल के लोग हमारी कर्धर्ना-बेहाकाव-करवालते हैं ॥ यह ससार नगर है, मोहनीय कर्म इसका राजा है, कुसङ्ग इस राजा का सैन्य है, मरुमग्रह महा-सामन्त-महामन्त्री है, और दुष्ट असंतयियों की पूजारूप दक्षम आभर्ष उसका दूसरा सामन्त है ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीजिनवल्लभसूरिविरचित सङ्ख्यपट्टक का
हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ॥

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार के प्रकाशन ।

गणधरसार्धशतकम् ।
(अंतर्गतप्रकरणम्) ।
अथतिहुअथवृत्ति ।
द्विवालीवस्था ।
प्रश्नोत्तरसार्धशतकम् ।
विशेषशतकम् ।
संवेदसोळावलीवृत्ति ।
पञ्चसिगिप्रकरणम् ।
लैत्ययदनकुलकवृत्तिप्रति ।
अनुयोगप्रारम्भम् ।
कल्पद्रुमकविकामार्पातरम् ।
संवेगर्गशाला ।
श्रीपालधरिण प्राकृत-मार्पातर ।
द्वादशपदेष्व्याख्यात्रमापा ।
जीवयिधारादि प्रकरणमापा ।
कस्याप्यमंदिरस्तोत्रटीका ।
भक्तामरस्तोत्रटीका ।
द्वादशकुलकविवरणम् ।

पदस्थानप्रकरणम् ।
धर्मशास्त्रिमद्रथरिणम् ।
धर्मथरिणम् ।
तामाबारीशतकम् ।
कल्पसूत्र-कल्पलताम्याख्या ।
प्राकृतम्याकरणम् ।
विधिमार्गप्रपा ।
सप्तस्मरणटीका ।
गाथासहस्री ।
अतिमुक्तकमुनिचरिणम् ।
गणधरसार्धशतकसंग्रहवृत्तिः ।
कल्पद्रुमकविकाटीका ।
पुण्यसारकथामकम् ।
धर्मप्रादि ग्रन्थप्रयी ।
जैन धातुप्रतिमा सय ।
प्राचीन हिंदी पद्य संग्रह ।
बीशस्थानक तप विधि ।
रत्नसिद्ध चरियम् ।

